UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182864

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 793.30954 V28B Accession No. H 3353

Author वर्मा, केशवचन्द्र

Title भारतीय नृत्यकला 1961.

This book should be returned on or before the date last marked below.

भारतीय नृत्यकला

शिवचन्द्र वर्मा

किताब महल, इलाहाबाद

प्रकाशक
किताब महल
५६ ए, ज़ीरो रोड
इलाहाबाद

●

आवृत्ति प्रथम १८८३ शकाब्द (सन् १९६१ ई०)
मूल्य ५.०० न० पै०

●

वितरक
किताब महल (होलसेल डिवीज़न) प्राइवेट लि०
कलकत्ता ● बम्बई ● दिल्ली ● जयपुर ● हैदराबाद ● पटना

●

मुद्रक
राम प्रिंटिंग प्रेस
७७, बाई का बाग
इलाहाबाद

●

आवरण मुद्रक
ईगल ऑफसेट प्रिंटर्स
१५, थार्नहिल रोड
इलाहाबाद

भारतीय नृत्यकला

विज्ञापन

●

⊙ आज जब यह पुस्तक तैयार हो गई है तो मुझे स्वयं बहुत आश्चर्य हो रहा है कि इतना सब कुछ कैसे लिख गया है। यह पुस्तक तैयार होकर सामने आ जायगी, इसका स्वयं मुझे बहुत कम विश्वास था। इसके अनेक 'अध्याय' (?) पृथक् लेखों के रूप में जन्मे थे और देश की अनेक पत्र-पत्रिकाओं

में समय 'कुसमय' स्थान पाते रहे। जब उन लेखों को लिखता था तो दो बातें मेरे अंतर्मन में गूँजती रहती थीं—पहिली तो यह कि हिन्दी लिखने-पढ़ने वाला लेखक-पाठक नृत्य की महान् कला को क्यों नहीं समझने की चेष्टा करता और क्यों नहीं उसकी 'रिद्म' को—उसकी लयात्मकता को—आत्मसात् करने का यत्न करता? अन्य भाषाओं की भाँति, अन्य ललित कलाओं की भाँति इसके सम्बन्ध में, चाहे कुछ परिचयात्मक ही हो, क्यों नहीं लिखा जाता? इसका उत्तर मेरे पास केवल यही था कि—और कोई नहीं करता तो तुम करो। दूसरी बात और भीतर की थी। बचपन से इस कला के प्रति भरपूर आकृष्टि जब अपना और कोई रास्ता न पा सकी तो केवल उसके रस-वर्णन से झूठी तुष्टि की भावना ग्रहण करती रही।

⊙ कलाओं को ख़ानों में, वर्गों में बाँट कर इस प्रकार देखा गया है कि उसकी समग्रता, उसका सम्पूर्ण रसबोध जो जीवन को उसकी विशाल गतिमयता और लयात्मकता प्रदान करता है, आज खो-सा गया लगता है। आज का साहित्यकार इस जगत् से उतना ही अपरिचित है जितना कोई संगीतज्ञ या नर्तक आधुनिक साहित्य से। दोनों की सहज अपूर्णताएँ एवं विवशताएँ इस प्रकार की सीमागत कुण्ठाओं का सहज परिणाम हुई हैं। साहित्यकारों ने अब फ़ैशन के नाम पर चित्रकला एवं मूर्तिकला को तो किसी सीमा तक ग्रहण करने की चेष्टा भी की है किंतु संगीत तथा नृत्य की लयात्मकता को पकड़ने की अभी चेष्टा ही नहीं की गई। नृत्य का वह 'रिद्म' ही समस्त जटिलताओं एवं विषमताओं के मध्य एक नया अर्थ, एक नया संदर्भ उत्पन्न कर सकता है।

⊙ इस पुस्तक के सम्बन्ध में मुझे बहुत-सी बातें कहनी हैं। पहिली और सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि इस पुस्तक को नितांत-प्रमाणिकता एवं शास्त्रीयता की कसौटी पर कसना भारी भूल होगी। मैंने उस दृष्टिकोण को अपनाया ही नहीं है। महत्वपूर्ण ग्रंथों को उलटते समय भी मैंने इस बात

की अधिक चेष्टा की है कि भारतीय नृत्य-कला के विविध रसमय पक्ष हिंदी के पाठक के सामने इस प्रकार से प्रस्तुत किये जायँ कि वे इस कला का व्याकरण न समझाकर, मात्र भाव समझा सकें। इस दृष्टि को लेकर चलते ही बहुत-सी बातों का उल्लेख अनावश्यक समझकर छोड़ दिया गया है। कहीं किसी विशिष्ट प्रदेश के कुछ 'टेकनिकल' शब्दों के उच्चारण का भी भेद संभव हो सकता है किंतु नृत्य के मूलभाव का समुचित उल्लेख हो सके, इसका ध्यान रक्खा गया है। दूसरी बात यह है कि पुस्तक छोटे-छोटे लेखों के रूप में गढ़कर तैयार की गई है अतः ऐसे बहुत से स्थल आ सकते हैं जो पुस्तक के पाठक को अनावश्यक-पुनरावृत्ति भी लग सकते हैं। यथा संभव उन स्थलों को मैंने हटाने की चेष्टा की है पर कहीं-कहीं वे ज्यों के त्यों बने भी रह गये हैं। तीसरी बात यह है कि यद्यपि इस क्षेत्र के कई अंगों को मैंने समेटने की चेष्टा की है किन्तु जैसा निवेदन कर चुका हूँ वे सब आंशिक वर्णन ही हैं। आप इसे पढ़कर केवल उस रस का एक स्वाद पा सकेंगे, उसकी तुष्टि नहीं।

⊙ पुस्तक में सुविधा की दृष्टि से अलग-अलग खण्ड कर दिये गये हैं। भारत की प्रमुख नृत्य-शैलियों के अतिरिक्त लोक-नृत्यों, प्रमुख नृत्यकारों तथा नृत्य संबंधी मंच-व्यवस्था आदि पर भी कुछ न कुछ इसलिए लिखा गया है ताकि भारतीय नृत्य के सम्बन्ध में जब एक चित्र मस्तिष्क में बनने लगे तो उसका एक रूप खड़ा हो सके। प्रमुख नृत्यकारों में अन्य बहुत से ऐसे हैं जो इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य कर रहे हैं किन्तु तो भी यदि उनका विवरण यहाँ छूट गया हो तो उसके लिए मेरी अपनी सीमाएँ दोषी हैं उनकी कला-साधना नहीं। उसी तरह लोक-नृत्यों के क्षेत्र को भी पूरी तरह से सहेजने के लिए एक अलग पुस्तक की ही आवश्यकता होती। इस सबके अंत में है एक परिशिष्ट जैसा खण्ड। इसमें नृत्य और संगीत से संबंधित अनेक संक्षिप्त टिप्पणियाँ हैं। ये टिप्पणियाँ भारतीय नृत्य की गति-विधि समझने में सहायक सिद्ध होंगी, इसी विश्वास के साथ उन्हें इस पुस्तक में जोड़ रहा हूँ।

पुस्तक के विभिन्न अंश लिखते समय मेरे संगीत-प्रेमी परिवार ने भी बहुत सहायता की है यद्यपि मैं अपनी उस सारी रसमय पृष्ठभूमि का पूरा शोषण इसमें नहीं कर सका हूँ। उसे फिर कभी करूँगा। अस्तु।

प्रयाग
जनवरी, १९६१

—केशवचन्द्र वर्मा

लय की खोज में पड़े हुए सभी रसवान पाठकों को
(विशेषकर छोटी बहन उमा को)

• विषय-क्रम

- • नृत्य-कला : एक परिचय १
- • नृत्य-शैलियाँ एवं शिल्प-विधान
  - ☐ भरत नाट्यम ९
  - ☐ कत्थक १७
  - ☐ कथाकली २८
  - ☐ मणिपुरी ३६
  - ☐ आधुनिक नृत्यःसीमाएँ और संभावनाएँ ४५
  - ☐ नृत्य की भाषा ५६
  - ☐ नृत्य-संगीत : साहचर्य और वैषम्य ६३
  - ☐ नृत्य की मंच और प्रकाश व्यवस्था ६९
- • लोक-नृत्य
  - ☐ लोक-नृत्यों की परम्परा ७५
  - ☐ उत्तर प्रदेश के लोक-नृत्य ८१
  - ☐ राजस्थान के जन-नृत्य ८६
  - ☐ बिहार के मनहर लोक-नृत्य ९०
  - ☐ उड़िया आदिवासियों के लोक-नृत्य ९४
  - ☐ महाराष्ट्र के लोक-नृत्य ९७
  - ☐ दक्षिण भारत के लोक-नृत्य १०१
  - ☐ गुजराती गरबा तथा अन्य नृत्य १०६
  - ☐ पंचनद के लोक-नृत्य १०९
  - ☐ कचिपुडी : दक्षिण का वैष्णव-नृत्य ११३

☐ बंगाल के थिरकते पाँव ११६
☐ दक्षिण के दो लीला-नृत्य १२०
☐ आदिवासियों के कुछ नृत्य १२४
☐ असमिया लोक-नृत्य १२७

● नृत्यकार-परिचय

☐ महराज बिंदादीन १३२
☐ रामगोपाल १३६
☐ उदयशंकर १३९
☐ बाला सरस्वती १४५
☐ गोपीनाथ १४८
☐ रुक्मिणी देवी अरुण्डेल १५१
☐ श्रीमती शान्ता १५४
☐ झावेरी बहनें १५७

● परिशिष्ट

☐ मणिपुरी रासलीला १६१
☐ ठुमरी : एक लोकरंजक गायकी १६८
☐ बंगाल का लोक-संगीत १७३
☐ नृत्य की टैगोर-शैली १७८
☐ एक कला-आंदोलन : अवध कला-मंडल १८९
☐ संदर्भ ग्रंथों की सूची १९१

● ● ●

नृत्य-कला : एक परिचय

नृत्य कला : एक परिचय

●

नृत्य या नृत्य-कला का जन्म इस देश में अन्य कलाओं की भाँति धर्म के ही माध्यम से हुआ। बिना धर्म की पृष्ठभूमि के इस कला का पनपना शायद सम्भव न हो पाता। नाट्य शास्त्र में इसके जन्म की एक मनोरम कथा दी हुई है। स्वर्गाधिपति इन्द्र एक बार ब्रह्मा के पास गये और उनसे कहा कि देवताओं के योग्य मनोरंजन का कोई साधन बताइये। देवताओं की स्तुति से ब्रह्मा द्रवित हुए और उन्होंने अपने रचे हुए वेदों से उनका तत्व निकाला। ऋग्वेद से विषय निर्वाचन, साम से संगीत, यजुर से भाव-भंगिमा, और अथर्ववेद से रस लेकर उन्होंने नृत्य शास्त्र का निर्माण किया। इस नये

ग्रन्थ को उन्होंने 'नाट्य-वेद' नामक पंचम वेद कहा। इस वेद का निर्माण करके ब्रह्मा ने भरतमुनि को सौंप दिया ताकि वे और उनके कुशल शिष्य धरती पर इसका प्रचार कर सकें। नृत्य को सफल बनाने के लिए भरतमुनि को स्त्रियों की आवश्यकता हुई जो सूक्ष्म और कोमल भावनाओं को अपने अंग परिचालन से पुष्ट कर सकतीं। ब्रह्मा ने तब इसकी पूर्ति के लिए अप्सराओं की सृष्टि की। नृत्य का सबसे प्रथम प्रदर्शन 'इन्द्रध्वज' नामक उत्सव में हुआ। विश्वकर्मा ने इस अवसर के लिए नाटकशाला बनाई और इन्द्र के आदर के हेतु ध्वजा फहराई गई। सुर और असुर दोनों ही इसे देखने के लिए आये। नृत्य प्रारम्भ होने के कुछ देर पश्चात् राक्षसों ने अपनी माया से नृत्यकारों को मूर्तिवत् कर दिया और उनका अंग-परिचालन जड़ हो गया। इन्द्र ने तब अपने बज्र से उन सबको मार कर भगा दिया। असुरों ने अपनी विपत्ति ब्रह्मा से जाकर बताई और उनसे कहा कि 'देवता न केवल रंगशालासे हमें हटाते हैं वरन् वे अपने नृत्यों और अभिनयों में असुरों की हार का प्रदर्शन भी करते हैं।' ब्रह्मा ने उन्हें उत्तर दिया कि 'नृत्य केवल लोकोत्तर आनन्द और मनोरंजन का ही साधन नहीं है किन्तु वह त्रैलोक्य के समस्त भावों को कुशलतापूर्वक दर्शाने का एक सशक्त माध्यम है। इस कारण देवताओं को ऐसा करने से नहीं रोका जा सकता।' ब्रह्मा ने ऐसा समझा कर असुरों को वहाँ से हटा दिया। अस्तु।

नृत्य जगत् के आदि नृत्यकार नटराज शिव हैं। उनके विराट नृत्य से ही विश्व की पंच क्रियाओं का जन्म हुआ है। संगीत, ताल और स्वर का स्वरूप उन्हीं के ताण्डव-नृत्य द्वारा निर्दिष्ट हुआ है। शिव के ताण्डव में सभी सम्मिलित होते हैं। उसकी विराटता में ब्रह्मा ताल देते हैं, विष्णु मृदंग या डमरू बजाते हैं, भारती अपनी वीणा की झंकार देती हैं, रवि-शशि बाँसुरी फूँकते हैं, अप्सराएँ और किन्नरी श्रुतियों का ध्यान रखती हैं, तथा नान्दी और भृङ्गी मदल बजाते हैं। इसके साथ नारद मुनि स्वर मिलाते हैं। ऐसे समय में शिव का तांडव नृत्य होता है। शिव के इस नृत्य के समय की अंगस्थिति (पोज़) पर विचार करते हुए डाक्टर आनन्द कुमारस्वामी ने लिखा है—

'डमरू से सृष्टि और अभय प्रदान करने वाली मुद्रा से आशा अथवा रक्षा का उद्भव होता है। अग्नि से विनाश का संकेत होता है और उठा हुआ पद मुक्ति का सूचक है।'—(डांस आफ लार्ड शिव)

पुराणों के देवता और देवियाँ नृत्यकला में प्रायः प्रवीण होते थे। इन्द्र स्वयं उच्च श्रेणी के नृत्यकार थे और उनके सभासद किन्नर एवं गंधर्व, गायक और वादक थे। अप्सराएँ हर प्रकार के नृत्य में दक्ष थीं। भारतीय नृत्य में कृष्ण का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उनसे सम्बन्धित रासलीला नृत्य आज भी वृन्दावन में गूँजता है। महाभारत युग में अन्य नृत्यकारों के अतिरिक्त स्वयं पराक्रमी अर्जुन एक पटु नृत्यकार थे। प्रवासकाल में उन्होंने बृहन्नला के रूप में उत्तरा को स्वयं नृत्य की दीक्षा दी थी। रावण ने ताण्डव नृत्य से ही भगवान आशुतोष को प्रसन्न किया था। बताते हैं कि 'रावणास्त्रम्' नामक दक्षिण में प्रचलित एक वाद्ययंत्र, रावण के नृत्य के साथ बजाया जाता था।

नाट्य शास्त्र का विभाजन जितने वैज्ञानिक ढंग से भारतीय पद्धति में किया गया है, उतना अन्यत्र देखने में नहीं आता। इसकी एक झलक अगले पृष्ठ पर प्रस्तुत है।

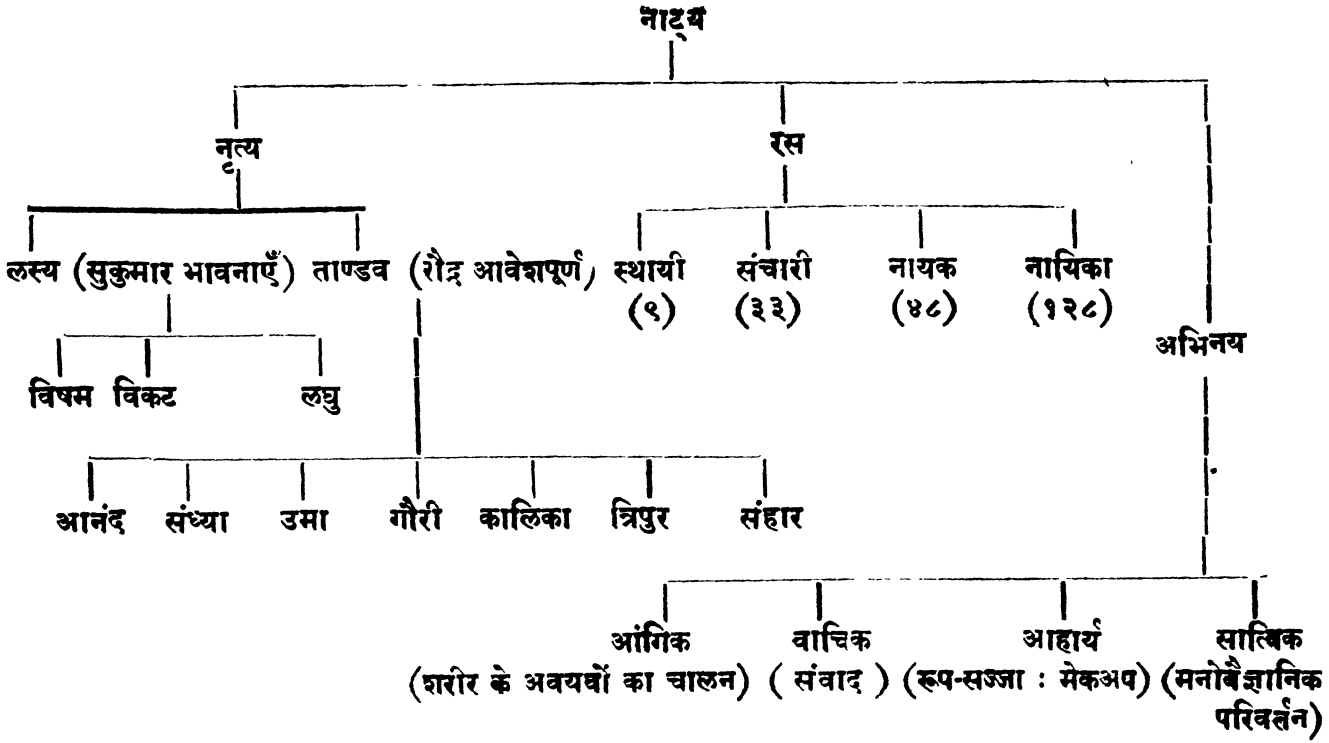
नाट्य
नृत्य
रस
लस्य (सुकुमार भावनाएँ)
ताण्डव (रौद्र आवेशपूर्ण)
स्थायी (९)
संचारी (३३)
नायक (४८)
नायिका (१२८)
अभिनय
विषम
विकट
लघु
आनंद
संध्या
उमा
गौरी
कालिका
त्रिपुर
संहार
आंगिक (शरीर के अवयवों का चालन)
वाचिक (संवाद)
आहार्य (रूप-सज्जा : मेकअप)
सात्विक (मनोवैज्ञानिक परिवर्तन)

नृत्य इन सबका सम्मिश्रण है। रसकी उद्‌भावना करना नृत्य का मुख्य उद्देश्य होता है और उसके द्वारा सत्-आनन्द का अनुभव करना, उसका संस्पर्श प्राप्त करना यही नृत्य का लक्ष्य रहता है। अभिनय की सहायता से नृत्य को पूर्णता की ओर ले जाना ही नृत्यकार की सफलता है। भारतीय पद्धति में नृत्य दो भागों में विभक्त है—लस्य और ताण्डव। लस्य सुकुमार नृत्य है और कोमल भावनाओं के प्रदर्शन में स्त्रियों द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इसका विषय मुख्यतः शृंगार लीला होता है। लस्य के तीन प्रकारों में विषम सबसे कठिन है। आड़ी, गोल, तिरछे और टेढ़े ढंग से घूमकर विषम लस्य का प्रदर्शन किया जाता है। विकट लस्य में भी क्रम को तोड़-मरोड़ कर कठिन ढंग से चक्कर लगाते हैं। लघु लस्य में सीधी तरह पंजों के बल पर पूरा नृत्य किया जाता है। कहते हैं कि यह नृत्य शिव ने पार्वती को सिखाया था। कृष्ण के भी प्रायः समस्त नृत्य लस्य के ही अन्तर्गत आते हैं। ताण्डव नृत्य अपने रौद्रपूर्ण आवेश के लिए प्रसिद्ध है। इस नृत्य में गंभीरता की पृष्ठभूमि में चंचलता का सम्मिश्रण बड़ी कुशलतापूर्वक किया जाता है। इसकी सुन्दरता यही है कि शरीर के अत्यन्त चंचल परिचालन के बावजूद भी पूरा नृत्य अपने विषय से नहीं डिगता। वरन् यूं कहें कि वह चंचलता उसकी गंभीरता को और भी परिष्कृत करती है। यह नृत्य पुरुषों द्वारा किया जाता है। ताण्डव के सात उपभेद माने गये हैं—(क) आनन्द ताण्डव—जो कि पौरुष का आनन्द दर्शाने के लिए करते हैं। (ख) संध्या ताण्डव—काल-रात्रि के आगमन का सूचक नृत्य है। यह भयंकरता का आभास देता है। (ग) उमा ताण्डव—दाम्पत्य स्नेह का सहज भाव प्रदर्शित करने वाला नृत्य है। (घ) गौरी ताण्डव—गौरी के प्रति, नारी के प्रति आदि पुरुष का सहज सात्विक आकर्षण व्यक्त करने वाला नृत्य है। (ङ) कालिका ताण्डव—दुष्टों के दलन के लिए भैरव रूप का चित्रण प्रस्तुत करता है। (च) त्रिपुर ताण्डव—त्रिपुर नाश और राक्षस संहार की कथा प्रस्तुत करता है। (छ) संहार ताण्डव—शिव का प्रलयंकर रूप प्रदर्शित करता है, जिसमें कोई शेष नहीं रह जाता। धरती, आकाश, पहाड़, रवि, शशि सभी उस संहार ताण्डव में नष्ट हो जाते हैं। ताण्डव के इन उपरोक्त

सभी नृत्यों में विलक्षणता, शिव के पराक्रम, भीषणता और गम्भीरता का एक विचित्र सम्मिश्रण देखने में आता है। ताण्डव में उसी एक विराट शक्ति के अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं। आवेशपूर्ण मुद्राएँ और रौद्र अंग-स्थितियों का प्रयोग वीर, भयानक, वीभत्स और रौद्र रसों के परिपाक के लिए करते हैं। इस नृत्य में वाद्य भी गंभीर प्रकृति के प्रयुक्त होते हैं—जैसे मृदंग और नगाड़े। गंभीर घोष वाले तूर्य और दूसरे तुमुल ध्वनि उत्पन्न करने वाले बाजे ताण्डव नृत्य को एक अपूर्व परिप्रेक्ष देते हैं।

नृत्य में शरीर के अवयवों का परिचालन अत्यंत शास्त्रबद्ध होता है। नृत्यकारों को उसे उसी ढंग से ग्रहण करना पड़ता है। भरतनाट्य शास्त्र, अभिनय-दर्पण, हस्तलक्षण-दीपिका—सभी ग्रन्थ नृत्यकारों की विभिन्न अंग-स्थितियों और मुद्राओं का निर्देश करते हैं। इन ग्रन्थों में अंग-परिचालन के अलग-अलग नियम दिये हैं। उदाहरण के लिए शिर परिचालन के सम्बन्ध में नाट्य शास्त्र में तेरह और अभिनय-दर्पण में केवल नौ नियम दिये हुए हैं। इन परिचालनों में कुछ सर्वमान्य हैं। शिर-परिचालन की अलग स्थितियाँ भिन्न विषयों का प्रतिपादन करती हैं, जैसे अकम्पिता (अर्थात् शिर को ऊपर-नीचे ले जाना)। यह चालन स्वीकारोक्ति या निर्बोधता का सूचक है। कम्पिता (शिर का आवेशपूर्ण ऊपर-नीचे परिचालन) भावावेश का सूचक है। द्युत्त नकारात्मकता का बोध करता है। प्रकृति (स्वाभाविक उपस्थिति) नृत्यकार की चिंतामयता को व्यक्त करता है। न केवल शिर की वरन् हाथ और पैर की मुद्राएँ भी प्रायः निश्चित हैं। सिर्फ एक हाथ से की जाने वाली मुद्राएँ ५७ के लगभग होंगी। इन सबके विभिन्न अर्थ हैं। जैसे अर्धचन्द्र से आग लेकर चलने का बोध होता है। पताका से जिस वस्तु की ओर इंगित किया जाय, उसी का संकेत मिलेगा। कर्तरी मुख से वियोग की भावना व्यक्त की जाती है। दोनों हाथों की मुद्राओं की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। इनमें कपोत, शंख, वाराह, मत्स्य आदि की अभिव्यक्ति बताई गई है। इसके सम्बन्ध में आगे विस्तार से चर्चा की गई है। पैरों के छः परिचालन हैं। इन परिचालनों में पैरों को क्रम से ऊपर उठाना, उन्हें एक सीमा तक

एक विशेष कोण पर ले जाकर या तो एक ही स्थिति में रखना या उन्हें दुबारा वापस लाकर फिर दूसरी स्थिति में रखना पड़ता है। पंजों का और एँड़ी का प्रयोग कब और कहाँ करना चाहिए, इसका भी उल्लेख उसमें है। चूँकि नूपुरों की ध्वनि पद-संचालन पर ही निर्भर करती है इस कारण नृत्य में इसका बहुत महत्व है। उच्च कोटि के नृत्यकार इन परिचालनों के अतिरिक्त मंडल, भ्रमरी और उत्प्लावन जैसे कठिन पदाभ्यासों को भी प्रदर्शित करते हैं। इन सारी मुद्राओं और अंगस्थिति का सम्पूर्ण रूप 'करण' नाम से सम्बोधित होता है।

उत्तर भारत में इतिहास की धारा ने जैसे-जैसे मोड़ लिये उनका प्रभाव नृत्य के विकास पर सुस्पष्ट ही देखने को मिलता है। वैदिक काल के बाद बौद्धकालीन भारत नृत्य की महान् परम्परा में उतनी रुचि नहीं ले सका। किन्तु भिक्षुकों और मठों की संस्कृति के बीच भी जो मूर्तियाँ बनीं उनमें नृत्य की अंगस्थितियाँ ही चित्रित की गईं। राजपूत राजाओं के काल में इस कला को अवश्य प्रोत्साहन मिला था पर कहते हैं मुहम्मद बिन तुगलक के काल में इस कला की उल्लेखनीय प्रगति हुई। वैसे तो बौद्ध युग के बाद ही नृत्यकला के प्रमाण ग्रन्थों की भी रचना हो चुकी थी। दक्षिण में नृत्यकला सुरक्षित रही। वहाँ का कथाकली नृत्य आज भी अपने पूर्व रूप में है। तंजोरी नृत्य भी बहुत लोकप्रिय है। उत्तरी भारत में कट्टर मुगलों ने इसे पनपने नहीं दिया; पर नवाबों के काल में जब विलासिता की ओर शासकों की रुझान हुई तो नृत्य के पंख फिर उगे। उन्होंने नृत्य को अपनी ऐहिक वासनाओं की पूर्ति लिए भी प्रोत्साहित किया। नृत्य के आध्यात्मिक सुख और लोकोत्तर शान्ति—जैसे उद्देश्य उनके निकट कोई विशेष मूल्य नहीं रखते थे। आधुनिक काल में रविबाबू ने इस दिशा में क्रांतिकारी उथल-पुथल की। नृत्य के जिस वासनापूर्ण रूप से घबरा कर भले घर के लोगों ने उसे त्याज्य मान लिया था, उन्हें फिर से इस दिशा में संस्कृत करने का श्रेय रविबाबू को ही है। नृत्य के पेशेवर पक्ष को विशुद्ध कलावादी दृष्टिकोण में बदलने में शान्ति निकेतन की सहशिक्षा और नृत्य दीक्षा बहुत सीमा तक सहायक हुई। श्री उदयशंकर के अल्मोड़ा स्थित नृत्य केन्द्र ने भी नृत्य के प्रति युवकों और युवतियों में नया आकर्षण दिया।

भारतीय नृत्य कला को विदेशों की भूमि पर यश दिलाने का कार्य श्री उदय-शंकर ने बहुत यत्न से किया। श्री रामगोपाल व मृणालिनी की जोड़ी भी ख्यातिप्राप्त है। रागिनी देवी, मीरा देवी और साधना बोस, प्रभृति कला-कारों ने नृत्य को जनमानस में पुनर्स्थापित करने में सराहनीय योग दिया। आज की संगीत की दुनियां में जितने संगीत सम्मेलन होते रहते हैं, उनमें नृत्य के कार्यक्रम अत्यंत आकर्षक सिद्ध हुए हैं। इन सम्मेलनों ने कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, इलाहाबाद, लखनऊ, मद्रास, सब ओर नृत्य कला के अच्छे केन्द्रों को जन्म दिया जहाँ इसकी दीक्षा अच्छे शिक्षकों द्वारा दी जा रही है। ● ● ●

नृत्य शैलियाँ एवं शिल्प-विधान

भरत-नाट्यम्

●

प्राचीन भारतीय नृत्यों में भरत-नाट्य जितना शास्त्रसम्मत नृत्य माना जाता है, उतना अन्य दूसरा कोई नहीं। दक्षिण में यह नृत्य अपनी सारी पद्धतियों की पूर्णता के साथ सहेज कर बराबर जीवित रहा है। तामिलनाद प्रदेश को इस बात का गर्व है कि उसने इस नृत्य को न केवल विकसित किया वरन् वह भारतीय नृत्य प्रणाली के इस अंग को पूर्णता के निकटतम ले जाने के यत्न में रहा। दक्षिण में भारतीय द्रविड़ संस्कृति बाहरी आक्रमण से काफ़ी सुरक्षित रही और इसी कारण भरत-नाट्य भी अपने पूर्व रूप को बहुत सीमा तक बनाये रख सका। तंजौर प्रदेश में भरत-नाट्य प्रणाली को विजयनगर के राजाओं द्वारा काफी प्रश्रय मिला।

भारत की कुछ प्रमुख नृत्य-शैलियाँ

भरत नाट्यम

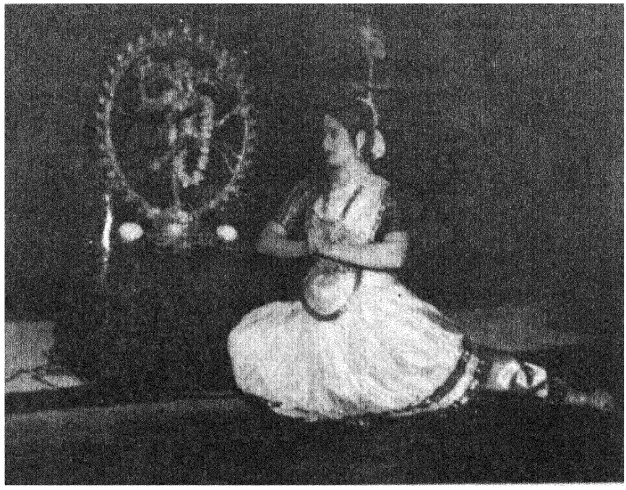

भरत-नाट्य के पूरे स्वरूप को आकृति देने वाली छोटी-छोटी संक्षिप्त अगंस्थितियाँ करण के नाम से जानी जाती हैं। बिना इन करणों की परम्परा जाने हुए और उनका अर्थ समझे हुए भरत-नाट्य के सम्पूर्ण भावों की अभिव्यक्ति ग्रहण करना एक दुस्तर कार्य है। भरत-नाट्य शास्त्र में ताण्डव और लस्य नृत्यों को मिला कर १०८ करणों की सूची दी हुई है और यह कहा गया है कि आवश्यकतानुसार नये करणों की सृष्टि की जा सकती है। पैरों से ताल देने की क्रिया "अडवु" नाम से प्रचलित है। अडवु और करणों की सम्मिलित अभिव्यक्ति नृत्यकार को मुद्रा देती है। जितने अधिक अडवु और करण ये नत्तुवन अपने शिष्यों को सिखा देते हैं, वह उतना ही श्रेष्ठ नर्तक होता है। पर जैसा कि संगीतज्ञों, नृत्यकारों तथा अन्य कलाकारों में कला के अधिक प्रचलन का भय समाया रहता है, और उसके अनुसार वे अपने शिष्यों को सदैव सीमित अंगस्थितियाँ ही सिखाते हैं उसी प्रकार मद्रास स्कूल के ये नत्तुवन शिक्षक अधिकतर अपने शिष्यों को चालीस पचास के लगभग अंगस्थितियाँ सिखाते हैं। वैसे दक्षिण भारत की स्थापत्य कला में भरत-नाट्य की अनेक अंगस्थितियों का चित्रण किया गया है। इन अंगस्थितियों का प्रादुर्भाव समय-समय पर होता रहा है।

पैर परिचालन में 'जेथी' (जाति ?) अर्थात् घुँघरू द्वारा ताल देने का विशेष ध्यान रक्खा जाता है। नत्तुवन ताल देता है और मृदंग बजाने वाले अपनी उँगलियों को नचा कर वही स्वर पैदा करते हैं जो नर्तक या नर्तकी अपने नूपुरों से उत्पन्न करता है। ताल की परिगणना और उसे सुन्दर रूप से पद-संचालन के साथ मिलाना भरत-नाट्य की अपनी विशेषता है। मृदंग में बजने वाले बोल 'चोल्लु' कहाते हैं और पद-संचालन से निकलने वाली घुँघरू की ध्वनि 'सोल्लुवकटु' कहाती है। 'त्रिक तकि धाकिट, त्रिक ता थोम' की तरह के बोल उनसे निकलते हैं जो उत्तर भारत के कत्थक नृत्य में भी प्रायः सुनने को मिल जाते हैं। ताल की समाप्ति पर जब करण और अडवु को सम्मिलित करते हुए नर्तकी अपनी विशेष अंगस्थिति लाना चाहती है तो वह प्रायः पद-संचालन को ताल की एक-तिहाई या तिरमान लगाकर समाप्त करती है।

इस तिहाई में एक छोटा बोल तीन बार कह कर फिर सम पर लाना पड़ता है। तिहाइयों की सुन्दरता उसके टेढ़ेपन और तीव्रता से आँकी जाती है।

हस्त चालन और उसकी विभिन्न मुद्राओं की सूची अलग दी हुई है। भरत ने एक हाथ की चौबीस और दोनों हाथों की तेरह मुद्राएँ बताई हैं। पर इनकी संख्या भी बराबर घटती-बढ़ती रही है। नृत्य के अभिनय अंग में जहाँ इनके द्वारा अर्थ व्यक्त किये जाते हैं वहाँ ये मुद्राएँ बहुत महत्वपूर्ण हो जाती हैं। विभिन्न देवी-देवताओं को उनके चिरपरिचित प्रतीकों से अभिव्यक्त करने की चेष्टा की जाती है—जैसे कृष्ण को मुरली से या नटराज शिव को शिवलिंग से या जटाजूट की गंगा अथवा सर्प आदि से। इस सब के उन्मुक्त उपयोग के लिए नृत्यकार को भारतीय संस्कृति और पौराणिक गाथाओं से भली भाँति परिचित होना पड़ता है अन्यथा ये सब प्रतीक उसके पल्ले नहीं पड़ते। भरत-नाट्य के अन्तर्गत प्रदर्शित अभिनय तत्व बहुत महत्वपूर्ण है। वही उसके विषयवस्तु को दर्शकों के सम्मुख प्रभावशाली ढंग से रखता है। इस नृत्य के विशेषज्ञों का कहना है कि पडांनाल्लुर स्कूल के नर्तक अभिनय और नृत्त तत्व का अच्छा सम्मिश्रण अपने प्रदर्शन में दिखाने की चेष्टा करते हैं। श्री मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्ले इस नृत्य के अच्छे विद्वान् माने जाते हैं और उनके शिष्यों ने यथेष्ट यश भी अर्जित किया है। वर्तमान भरत-नाट्य के नर्तकों ने उसे अति आधुनिक बनाने की चेष्टा में कुछ ऐसे प्रयोग किये हैं जो शास्त्रोक्त भरत-नाट्य के शिक्षकों के गले के नीचे नहीं उतरता। ठीक उनके विपरीत रूढ़िगत परंपरा को ही कला की इतिश्री मान कर नृत्य सिखाने वाले नत्तुवन मात्र 'जेथी' या ताल-परिचालन पर ही अपने सारे कौशल की समाप्ति कर देते हैं। श्रीमती बालासरस्वती भरत-नाट्य की एक अत्यन्त सफल नर्तकी हैं। इनकी माँ भी एक ख्यातिप्राप्त गायिका थीं और कहते हैं कि नृत्य की शिक्षा में पारंगत बनने का सौभाग्य इनको उनके गीतों से मिला जिन्हें श्रीमती बालासरस्वती ने अपने नृत्य अभिनयों में उतारा।

भरत-नाट्य अपने आप में विशिष्ट एवं सम्पूर्ण रहता है। इस नृत्य में सात संक्षिप्त कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाते हैं। पहिला 'अलारिप्पु'—इस शब्द

का अर्थ वैसे तो विकसित होना या प्रस्फुटित होना है। भरत-नाट्य में यह कार्यक्रम उसका मंगलाचरण-सा होता है जिसमें नृत्त की विभिन्न अंगस्थितियाँ और पद-संचालन से उसकी झलक दिखा दी जाती है। पैरों को सटाकर "समपद" स्थिति में रखकर नमस्कार की मुद्रा के पश्चात् ही नृत्त प्रारम्भ होता है। इस प्रारम्भिक कार्यक्रम में गले, आँखों और भ्रू के विभिन्न परिचालनों से, जिन्हें 'रेचक' कहते हैं, नर्तक गति का संकेत करता है। इस नृत्य के द्वारा नृत्यकार देवता का आवाहन करता है कि वह उसे इस कार्यक्रम को सफल बनाने में सहायक हो और उसकी अर्चना और अर्पण स्वीकार करे। 'अलारिप्पु' अंग की विशेषता यह भी है कि उसमें शरीर के दोनों भागों का सम नृत्य होता है। अर्थात् जैसा बायाँ अंग करता है ठीक उसी प्रकार की स्थितियाँ दाहिने अंग से प्रस्तुत की जाती हैं। भरत-नाट्य में नृत्यकार की गतिविधि सदैव आगे की ओर उन्मुख रहती है चाहे वह मन्दिर के देवता की ओर हो या चाहे किसी दरबारी संरक्षक की ओर। आसपास के दर्शकों के प्रति भी नृत्यकार सजग रहता है और अपनी मुद्राएँ और चेष्टाएँ उनकी ओर भी उन्मुख करता है किन्तु जहाँ सम आता है वहाँ वह आगे की ही ओर बढ़ता है।

अलारिप्पु के पश्चात् 'जेथी स्वरम्' या 'जाति-स्वर' अंग प्रदर्शित किया जाता है। इसमें ताल के विभिन्न करतब दिखाये जाते हैं। नर्तकी कमर पर हाथ रख कर पैरों के सीधे परिचालन से ताल दिखाती है। उसके बाद वह जाति का काम उठाती है। मृदंग बजाने वाले साथी नर्तकी या नर्तक 'सोल्लु-क्कटु' और 'चोल्लु' का काम दिखाते हैं।

'शब्दम्' भरत-नाट्यम् में प्रथम बार साहित्य या शब्द से दर्शकों को परिचित कराता है। अभिनय अंग की झाँकी पहली बार इन चेष्टाओं में दिखाई पड़ती है। जाति-स्वर की किसी तिरमान या तिहाई के बाद यह गीत प्रारम्भ हो जाता है। इस गीत में अधिकतर प्रभु की वंदना रहती है। कभी-कभी इनमें विभिन्न राजाओं की भी स्तुति मिलती है। नर्तक वह भाव दिखा-कर फिर झुक कर 'सलाम' करता हुआ पीछे हट जाता है। यह 'सलाम' अंग

किसी अंश तक मुस्लिम प्रभाव भी हो सकता है। वैसे राजाओं की प्रशस्ति जहाँ कहीं भी की गई है वहाँ बहुत घुमा कर और बचा कर की गई है ताकि नृत्य की पवित्रता भ्रष्ट न होने पाये। अक्सर कुछ नर्तक पूरे कार्यक्रम को संक्षिप्त करने के लिए इस अंश को निकाल भी देते हैं।

वर्ण या वर्णम् भरत-नाट्य का सबसे कठिन और रोचक अंश होता है। नृत्य में अधिक रस भरने के लिए उसे अधिक रंगीन बनाने के लिए वर्ण या वर्णम् का प्रयोग किया जाता है। इस कार्यक्रम में नृत्त (मात्र पद-संचालन और अंगस्थितियाँ) तथा अभिनय दोनों ही अपने पूर्ण रूप में देखने को मिलते हैं। इस नृत्यांग में ताल-क्षमता के साथ विभिन्न प्रकार की अभिनय मुद्राओं का प्रदर्शन लाघव से नर्तक प्रस्तुत करता है। यह भावाभिव्यक्ति सूक्ष्म और कोमलतम भावों को स्पर्श करती है। उन भावों की प्रेषणीयता की पृष्ठभूमि 'अल्लारिप्पु' 'जाति या जेथी स्वरम्' और शब्दम् से पूरी हो चुकी रहती है। इसलिए नर्तक नृत्य के इस अंग को अपने समस्त कला प्रदर्शन की चरम परिणति मानता है। वर्ण के पीछे चलने वाले गीत पल्लवि, अनुपल्लवि और चरणम् में विभक्त होते हैं। पल्लवि में एक संक्षिप्त प्रश्न-सा किया जाता है, जैसे—'आज चाँद क्यों नहीं उगा ?' अनुपल्लवि में उसका प्रेमाख्यान प्रारम्भ होगा जहाँ उसकी तुलना नायिका के मुख से की जायगी और चाँद इसी कारण लजा कर नहीं उगा बताया जायगा। और अन्त चरणम् द्वारा होता है जिसमें नायक नायिका के प्रेम का आनन्ददायी वर्णन किया जाता है। चरणम् अंश में नृत्यकार को अपना कौशल दिखाने की बड़ी छूट मिलती है। अनूठे रागों में बँधे हुए गीत दर्शकों को मन्त्रमुग्ध किये रहते हैं।

नृत्यकार के इस तड़ितवेग परिचालन के पश्चात् भरत-नाट्य में पद गायन का नियमित कार्यक्रम प्रारम्भ होता है जिसमें नृत्य का अंश कम और अभिनय का तत्व अधिक हो जाता है। इस कारण नृत्यकार अपने पैरों को कुछ आराम दे सकता है। लगभग सात-आठ पद गाये जाते हैं और नृत्यकार उन्हें अपनी आंगिक चेष्टाओं से प्रदर्शित करता जाता है। जयदेव, पुरन्दरदास और भारती के पद इस आयोजन में प्रायः सुनने को मिल सकते हैं। इन गीतों

में शृंगार रस की अतिशय प्रधानता हो जाती है। नर्तक या नर्तकी इन्हें अपनी विभिन्न मुद्राओं से दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। राधा और कृष्ण की प्रेम-लीलाओं को अपना विषयवस्तु बना कर नृत्य में शृंगार की अवतारणा करते हैं। पद की एक-एक पंक्ति को अनेक प्रकार से व्यक्त करने की चेष्टा की जाती है। जो नर्तक जितने रूप दिखा सकता है, वह उस दिशा में उतना ही दक्ष समझा जाता है। देवदासियों के नैतिक पतन में शृंगार रस की इस चरम अभिव्यक्ति को बहुत सीमा तक दोषी समझना चाहिए।

तिल्लाना इस नृत्य की सम्पूर्ण शारीरिक चेष्टाओं को प्रदर्शित करने का अच्छा माध्यम है। इस नृत्यांश में एक बार फिर नर्तक अपनी घुँघरुओं की तीव्रलयता से अपने दर्शकों को हिला देता है। तिल्लाना अंग प्रमुखतः स्त्री नृत्यकारों के लिए ही उपयुक्त समझा गया है। इसमें अभिनय का अंश लग-भग नहीं के बराबर ही होता है। नायिका का प्रसन्न-वदना दिखाना और दर्शकों को उत्फुल्लित करना ही इसका उद्देश्य है।

भरत-नाट्य का कार्यक्रम जब समाप्त होता है तो श्लोक कहा जाता है। यह प्रायः संस्कृत में होते हैं। कभी-कभी जयदेव के गीत गोविन्द या अन्य किसी ऐसी ही रसमय पुस्तक से श्लोक उद्धृत होते हैं। श्लोक का अभिनय करते समय नृत्यकार पद-संचालन एकदम बन्द कर देता है और मात्र अपने मुख एवं हस्त-परिचालन से भाव प्रदर्शित करता है जिसमें श्रद्धानिवेदन से लेकर धन्यवाद तक सम्मिलित रहता है। इधर जब से राष्ट्रीयता की लहर चली एवं देश के पुनर्जागरण और पुनर्निर्माण का युग आया तब से स्वतन्त्रता-संग्राम के अमर सेनानियों के प्रति भी इस नृत्य में अन्त में आभार प्रदर्शित करने की एक झलक दिखाई पड़ती है।

भरत-नाट्य के नृत्यकारों की वेषभूषा काफी सजीली होती है किन्तु वे आभूषणों पर ही अधिक ध्यान देते हैं। पहिले के नर्तक नीचे छोटा चूड़ीदार पैजामा पहिन कर उस पर धोती बाँध कर नृत्य करते थे। पर अब नर्तकियाँ साड़ी और चोली पहिन कर इसको प्रायः करती हैं। धोती या साड़ी को शलवार के ढंग से बाँध कर वे अपने पद-संचालन को सुविधापूर्वक कर सकती

हैं। इसके अतिरिक्त नर्तक अपने मुख को विभिन्न प्रकार से सजाते हैं। कुंकुम, चन्दन और रोली के छोटे-छोटे गोल टीकों से सारा मुख अभिरंजित हो उठता है। आँखों को बड़ी दिखाने के लिए काजल का प्रयोग भी करते हैं।

भरत-नाट्य के साथ-साथ चलने वाला संगीत कर्नाटक संगीत का अंग है। दक्षिण में इस नृत्य के विकसित होने के कारण कर्नाटक संगीत की पूरी छत्रछाया इस पर रही है। अपनी पवित्रता के कारण यह संगीत अब भी भारत में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। मृदंग और मंजीर इस नृत्य के अभिन्न अंग हैं। इसके अतिरिक्त नाग-स्वरम् (शहनाई) भी इस नृत्य में प्रायः बजती थी। किन्तु अब आधुनिकता का ज्यों-ज्यों समावेश होता जा रहा है त्यों-त्यों उसमें वायोलिन और क्लैरोनेट भी सम्मिलित हो गये हैं। आधुनिकता का दूसरा प्रभाव इस नृत्य में यह हुआ है कि अब नर्तक और गायक तथा वादक 'माइक्रोफोन मांइडेड' हो गये हैं यानी माइक्रोफोन की सुविधा का ध्यान रख कर ही नृत्य करते हैं। यह स्थिति आजकल के नाटकों तथा संगीत सम्मेलनों में भी देखने को मिल जाती है। भरत-नाट्य में आधुनिकता का प्रभाव बहुत दूर तक बढ़ गया है।

भरत-नाट्य, जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, इस देश के सब से प्राचीन और शास्त्रसम्मत नृत्यों में से है। इस नृत्य को आधुनिकता की कसौटी पर जिस तरह परिष्कृत किया जा रहा है, वह सम्भव है बहुत सीमा तक इसके लिए घातक सिद्ध हो और अपने बहुत से रत्नकण खो दे। पर साथ ही इस नृत्य के 'क्लासिकल' परम्परावादी नर्तकों और नत्तुवनों को यह भी सोचना चाहिए कि यदि केवल एक रूढ़ि को ही लेकर वे पीटते रहे तो इस कला का रस मर जायगा। कला को जीवंत बनाये रखने के लिए उसे सतत् परिवर्तन-शील एवं ग्राह्य होना पड़ेगा। इसी दृष्टि से भरत-नाट्य को अवश्य बदलना होगा। किन्तु बदलने के अर्थ यह कभी नहीं हो सकते कि भरत-नाट्य रेस्ट्राँ या क्लब में बैठे हुए लोगों की चुहलबाज़ी और मनोरंजन का साधन बन कर ही रह जाय। ● ● ●

कत्थक नृत्य : इतिवृत्त और भावभूमि

●

भारतीय नृत्यों में कत्थक नृत्य जिस प्रकार राजाश्रय के माध्यम से उभरा, वैसा अन्य किसी प्रमुख नृत्य के साथ नहीं हुआ। दिल्ली और अवध के दरबारों में कत्थक नृत्य का वह स्वरूप विकसित हुआ जो लोकरंजन पक्ष का अधिक प्रतिनिधित्व करता था। इसके परिणाम भी स्पष्ट थे। कत्थक नृत्य क्रमशः सस्ती ढंग की शृंगारिक भावनाओं की पूर्ति का संगम बन गया। धीरे-धीरे इस नृत्य के बारे में यह धारणा बन गई कि यह भारतीय 'नाच' का एक निकृष्ट उदाहरण है, जो कि वैभव-सम्पन्न विलासी मुस्लिम शासकों से प्रश्रय पाकर पनपा है। इस भ्रामक धारणा को बनाने में तत्कालीन नर्तक-समाज का भी बहुत बड़ा योग है।

अन्य दूसरे नृत्यों की भाँति ही यह नृत्य भी मूलतः धर्म से ही सम्बद्ध है। कथक शब्द का इतिहास ही इसकी मूल प्रेरणा की ओर ले जा सकता है। संस्कृत काव्यों में कथक (कत्थक) शब्द से उस व्यक्ति का बोध लिया गया है जो किसी कथा को स्वयं रोचक रूप में वर्णित करने की क्षमता रखता हो। महाभारत में भी यत्र-तत्र इसका उल्लेख हुआ है। एक जैन कोष में तो कथा अथवा कथ्य को एक विशिष्ट संगीत-रचना के ही रूप में देखा गया है। यह भी कहते हैं कि 'कत्थक' नामक ब्राह्मणों की एक उपजाति के ही कारण इस नृत्य का ऐसा नामकरण हुआ; वे मन्दिर में पूजा करते समय इसी ढंग का नृत्य करते थे। इस सम्बन्ध में खोज करने वालों ने कुछ पौराणिक कथाओं के साथ भी कत्थक नृत्य को जोड़ा है। शिव एवं भस्मासुर की कथा में भगवान् विष्णु द्वारा मोहिनी रूप धारण करके भस्मासुर को अपने नृत्य द्वारा आकर्षित करने का यत्न कत्थक नृत्य का ही अंश माना जाता है। हाथ से मस्तक का स्पर्श कराके जिस प्रकार मोहिनीरूप विष्णु ने भस्मासुर को भस्म किया था, वह भंगिमा आज भी कत्थक नृत्य की 'आदि भंगिमा' के रूप में स्वीकृत है। नृत्यकला-रीति के विषय में एक-दूसरे स्थल पर एक कथा में उल्लेख आया है कि 'समचरणों से खड़े होकर दोनों भुजाओं को लता की भाँति लपेट कर ध्यानमग्ना की भाँति भाव प्रदर्शित करते हुए नृत्य करना चाहिए।' यह मुद्रा भी कत्थक नृत्य की ही है।

भारतीय नृत्य के अधिष्ठाता नटराज शिव एवं नटवर कृष्ण माने जाते हैं। कत्थक नृत्य के आदि देव रसराज नटवर कृष्ण हैं। कत्थक नृत्य पर प्रत्यक्षतः वैष्णव धर्म का बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। वैष्णवी भक्तिधारा कृष्ण की लीला का गान, उनका रासरंग, उनका रूप-चिंतन एवं नामस्मरण तथा भक्तगायक का आत्मनिवेदन एवं प्रभु में समर्पण—सब कुछ एक ही केन्द्र बिन्दु में समाहित करती है। कत्थक नृत्य पर इसकी प्रतिच्छाया स्पष्ट है। वैष्णव कीर्तन के अनेकानेक पद नृत्ययुत गायन के लिए इन भक्त कवियों ने रचे हैं। इन कीर्तन पदों में नृत्य के बोल भी कहीं-कहीं बड़े ही विचित्र ढंग से प्रयुक्त हुए हैं। सूर का यह पद इस दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। इसमें

भारत की कुछ प्रमुख नृत्य-शैलियाँ

कत्थक नृत्य

कत्थक नृत्य की वेशभूषा को भी भक्ति के रूपक में बाँधने का यत्न किया गया है—

अब मैं नाच्यों बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहिर चोलना कंठ विषय की माल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यो लोभ तिलक दियो भाल॥
—भरम भर्यो मन भयो पखावज चलत कुसंगत* चाल।

(या दूसरा पद 'श्रीनंदनंद नाचत त्रिभंग'—इसी सम्बन्ध में द्रष्टव्य है।)

उपर्युक्त पद जिस ढंग के नृत्य की कल्पना करता है वह कत्थक नृत्य के ही अन्तर्गत रक्खा जा सकता है—भरत नाट्य, कथाकलि अथवा मणिपुर के अन्तर्गत नहीं। कीर्तन के इन पदों में विभिन्न प्रकार की गतियों का भी उल्लेख है; उदाहरणतः गतिमयंद अथवा कुंजर गति, हंस, मराल और नटवर गति। नटवरी नृत्य कत्थक के एक विशिष्ट प्रदर्शन के रूप में स्वीकृत है। त्रिभंगी मुद्रा तो कीर्तन की ही देन है। कत्थक नृत्य के वैष्णवी धारा का अंश होने का प्रमाण राजस्थानी एवं पहाड़ी स्कूल की चित्रकला में भी यत्र-तत्र प्राप्त होता है। वैष्णवी धारा की तदात्मयता एवं एकाग्रता के लिए नृत्य का माध्यम बहुत सीमा तक सहायक सिद्ध हुआ।

जिस एकाग्रता और मानसिक अनुशासन को लाने के लिए कत्थक नृत्य ताल की आवृत्तियों में कस कर जकड़ा गया वही कालांतर में उसे एक विशिष्ट दिशा मात्र में ही विकसित करने के लिए बाध्य करने लगा। मुस्लिम शासन ने इस भक्ति-भाव की नृत्य-शैली को दरबारी तड़क-भड़क तथा अपनी आमोदप्रियता से पूरी तरह से अनुमंडित किया। उस नृत्य शैली का आंशिक अभिनय (तात्पर्य हाव-भाव!) मात्र ही शेष रह गया। वह भी कहीं-कहीं। इस प्रकार कत्थक नृत्य ने इस युग में एक नया जामा पहिना। वह धर्म के क्षेत्र से निकल कर दरबार की शरण में आ गया। उसकी अपनी आकर्षण शक्ति

---

*'कुसंगत'—यहाँ 'आड़ीलय' का पर्याय है।

एवं धुरी छिन गयी। उसमें चमक तो आई पर वह प्राणहीन हो गयी। उसकी परम्परा उससे विच्छिन्न हो गई और यह नृत्य शैली मात्र एक विलास-प्रिय प्रदर्शन होकर उभरने लगी। राधा और कृष्ण की लीला हिन्दी की रीतिकालीन कविता की भाँति शासकों की शृंगार-प्रियता का एक साधन बन कर रह गई तथा कत्थक नृत्य इसी प्रवृत्ति को प्रदर्शित करने वाला एक सफल, सशक्त और मनोरंजक माध्यम।

भारत के ये मुस्लिम शासक अपनी विलासिता को कलाप्रियता के आवरण से ढाँकने में बड़े पटु थे। वे इस तरह के समस्त कलाकारों को समुचित पुरस्कार देते थे और उन्हें इन्हीं हाव-भाव को और भी उत्तेजक बनाकर प्रदर्शित करने के लिए प्रोत्साहित करते थे। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि इन मुस्लिम शासकों का किशोर युवकों के प्रति आसक्ति भाव कत्थक नृत्यों में परिलक्षित हुआ और इसी कारण कत्थक नृत्यकार स्त्रैणता से उद्भासित रूप-सज्जा धारण करने लगा। इन्हीं नर्तकों के द्वारा यह नृत्य अपने सस्ते ढंग के हाव-भावों के माध्यम से बाजारू औरतों तक पहुँच गया और यह 'नाचने वालियों' का एक नृत्य-प्रकार बन गया।

इसी काल में कत्थकों के तीन प्रमुख केन्द्र स्थापित हुए—लाहौर में, लखनऊ में और जयपुर में। इन तीनों में लखनऊ का कत्थक घराना बहुत प्रमुख रहा क्योंकि अवध के नवाबों का आश्रय उसे सबसे अधिक मिला। लखनऊ घराने का श्रेय बढ़ाने में कालका और बिंदादीन कत्थकों का प्रमुख हाथ रहा है। लखनऊ घराने की स्थापना करने वाले बिंदादीन के पिता महाराज ठाकुर प्रसाद थे। कहते हैं कत्थक नृत्य की भावमयी शैली अपनाने के लिए स्वयं उन्हें नटवर कृष्ण ने स्वप्न में आदेश दिया था। वे अपने तीन पुत्रों—बिन्दादीन, कालकाप्रसाद और भैरोंप्रसाद के साथ नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में आये। कलाप्रेमी नवाब ने न केवल उनका सम्मान किया वरन् उन्हें अपना गुरू मान कर स्वयं कत्थक नृत्य की शिक्षा प्राप्त की। नवाबी समाप्त होने के कुछ समय पश्चात् महाराज ठाकुर प्रसाद का देहान्त हो गया। किन्तु उनकी शिक्षा के आधार पर उनके तीनों पुत्रों ने जनमानस

को भली-भाँति आकर्षित किया और अपने लिए स्थान बना लिया। कालान्तर में भैरोंप्रसाद की अकाल मृत्यु हो गयी। इस बीच बिन्दादीन ने कत्थक नृत्य को एक बार फिर उसके मूल से जोड़ने की अंशतः चेष्टा की। उसमें उन्होंने नई प्राणप्रतिष्ठा की। नृत्य के सात्विक अभिनय-भाव को पुनर्जीवित करने का यत्न किया। न केवल उन्होंने नृत्य को उस गर्हित स्थिति से ऊपर उठाने का यत्न किया वरन् कत्थक से सम्बन्धित जितनी भी सामग्री बिखरी पड़ी थी उसे बिन्दादीन ने संकलित करके उसका संपादन किया एवं उसे नियम से एक श्रृंखला में बाँधा। बिन्दादीन का कत्थकों की परंपरा में एक महान् व्यक्तित्व था। उन्हें इसीलिए ब्राह्मणों में श्रेष्ठ 'महाराज' की संज्ञा से विभूषित किया गया जो परम्परागत रूप से आज भी कत्थकों में चली आ रही है। बिन्दादीन ने इस नृत्य की गति को अपने उद्देश्यों के अधिक निकट ले जाने के लिए बोलदार परनों की रचना की। उन्होंने विशिष्ट भावमय प्रदर्शन की परम्परा आगे बढ़ाई। बिन्दादीन के पश्चात् भी इन नृत्य रचनाओं का क्रम चलता रहा। बिन्दादीन के भतीजे और कालका महराज के पुत्र अच्छन महराज, लच्छू महराज, शम्भू महराज तथा जयपुर के जियालाल महराज इस परम्परा को आगे बढ़ाते रहे। जयपुर का कत्थक घराना पदगति-संचालन तथा घुंघरू के कठिन कार्यों पर बल देता है जब कि लखनऊ का कत्थक घराना भावों के प्रदर्शन का आग्रह करता है। कत्थक नृत्यों में लखनऊ का घराना काफी लोकप्रिय हुआ है।

कत्थक नृत्य के प्रारम्भ को 'आमद' नाम से जानते हैं। [आमद-उर्दू शब्द जिसका अर्थ 'आगमन' है] मंच पर या सभास्थल में आकर कत्थक नृत्यकार उपस्थित जनसमुदाय को मुस्लिम ढंग से 'सलाम' करता हुआ अभिवादन करता है। वह अपनी मुद्रा बना कर खड़ा हो जाता है। इस मुद्रा में दाहिना हाथ सिर को स्पर्श करता है और बाँया हाथ समानांतर फैला हुआ रहता है। आँखें भावपूर्ण मुद्रा में हो जाती हैं और ग्रीवा तथा हाथों से भाव प्रदर्शन को मूर्त किया जाता है।

इस नृत्य को विभिन्न छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट कर प्रस्तुत करने की प्रक्रिया

चलती है। हर गति-आन्दोलन के पश्चात् नर्तक पुनः अपने पूर्व स्थान पर उसी पूर्व मुद्रा में आ खड़ा होता है और नये ढंग के टुकड़े को अपनी भाव-भंगिमा तथा पद-संचालन से प्रदर्शित करने का प्रयास करता है। इस नृत्य की परिचालना बहुधा कत्थक नृत्य शिक्षक के हाथ में होती है जो तबले का भी कुशल वादक होता है। अधिकतर यह शिक्षक ही इस नृत्य की योजना तैयार करता है और क्रम के अनुसार वह उन टुकड़ों को तबले में बजाता है जिससे नृत्य का सम्पूर्ण रस-बोध उभर सके और उस नृत्य योजना का उद्देश्य पूर्ण हो। इस नृत्य की परिधि परन, गत, तोड़ा और विभिन्न टुकड़ों से निर्मित है। नर्तक इसी परिस्थिति के भीतर अपना कौशल दिखाता है।

परन कत्थक नृत्य का एक महत्वपूर्ण अंश होता है। यह आवश्यक नहीं कि परन की शब्द-योजना किसी विशिष्ट काव्यात्मक अर्थ की ही अभिव्यक्ति करे। काव्य के यह छोटे-छोटे निरर्थक टुकड़े ताल की गति को बाँध कर चलते हैं और अपनी ध्वनि संयोजना से नृत्य में नया अर्थ उत्पन्न करते हैं। अनेक देवी-देवताओं की इस प्रकार के परनों में स्तुति है तथा राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। गणेश स्तुति के एक परन में इसी तरह के शब्दों की संयोजना की गयी है—

गण गण गणपति गजतन् मंगल।
तत् तत् थै थै जै जग बन्दन॥
दाता दानी धा धा नी धा।
धागिन तागिन धिन धा—आदि॥

एक दूसरा गणेश स्तुति का परन यूँ है—

श्रवण सुन्दर नाम गणपति ज्ञान नाथ गजाननं।

धिक धान धिकिट धधिन तकत॥
कृतिक लम्बोदर एक दंत धा।
कृतिक लम्बोदर एक दंत धा।
कृतिक लम्बोदर एक दंत धा॥

वस्तुतः यह संयोजना एक प्रकार के नादगत भावों को मुखर करती हैं। परन के द्वारा ही नर्तक अपने मुख पर हर प्रकार के भावाभिनयों को उतारने की चेष्टा करता है। ताल की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए अभिनय की प्रधानता परन में बराबर बनी रहती है। एक जयपुरी परन में शिव की स्तुति करते हुए कहा गया है—

जटा जूट मद गंग हलक्कत।
सीस चन्द्र लिल्लाट भलक्कत॥
रुण्डमाल गलसीस धरण धर।
पारवती पति सिव हर हर॥
पारवती पति सिव हर हर।
पारवती पति सिव हर हर॥

कभी-कभी ये परन ताल की सीमाओं से स्खलित हुए-से दीखते हैं। किन्तु कई आवृत्तियों के पश्चात् अन्ततः वे ताल की मात्राओं पर पूरे ही उतरते हैं। दर्शकों को लुभाने का यह एक कौशल मात्र है। तबला वादक इन परनों को पढ़ता जाता है और नर्तक उन्हें अपने तीव्र संचालन से घुंघुरुओं के बोल के द्वारा व्यक्त करके दिखाता जाता है। चक्रदार उड़न परन में एक ही ढंग के बोलों की तीन आवृत्तियाँ पढ़ी जाती हैं, और नर्तक उसे अपने नृत्य में जैसे का तैसा उतारता है।

'गत' द्वारा किसी विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति होती है, इसकी चाल द्रष्टव्य होती है। नृत्य के अभिनय अंश का लस्य ढंग पर बड़ा सजीव प्रदर्शन होता है, जैसे गोपिकाओं द्वारा पनघट पर पानी भरने जाना, मग-रोकन-लीला, माखन-चोरी-लीला, या गोपिकाओं की दूसरी प्रेम-लीलाएँ इसमें व्यक्त होती हैं।

नृत्य की तीव्र लय में जब किसी नाटकीय तत्व का समावेश करते हैं तो उसे तोड़ा के अन्तर्गत प्रदर्शित करने का यत्न होता है। टुकड़ा ताल का वह संयोजन है जिसमें एक प्रकार के छोटे-छोटे बोलों की दुहरी या तिहरी आवृत्ति

सम तक आने के लिए की जाती है। इससे ताल का सौंदर्य और भी निखर उठता है।

इस नृत्य शैली में भाव प्रदर्शन का एक यह भी ढंग था कि नर्तक सभा या महफिल में बैठ कर कोई शृंगारिक गीत (ठुमरी या दादरा) गाता और साथ ही उसे 'अदा' करता अर्थात् उसके भावों को अपने संकेतों से व्यक्त करता। इसे पूरा कर चुकने के पश्चात् ही वह अपने प्रदर्शित भावों के आधार पर नृत्य का प्रदर्शन करता था।

ताल के सम्पूर्ण अंगों पर बिना पूरी तरह दक्षता प्राप्त किए, कोई भी कत्थक नृत्य का सफल नर्तक नहीं हो सकता। ताल द्वारा ही उस नृत्य का सम्पूर्ण संचालन होता है। इन नृत्यों में प्रायः वादक और नर्तक एक-दूसरे पर बहुत सीमा तक निर्भर करते हैं। इस नृत्य के लिए ताल अनेक हैं, पर इनमें तीन ताल सबसे अधिक प्रयुक्त होता है। झपताल, दादरा और धम्मार का भी ज्ञान इन नृत्यकारों के लिए प्रायः आवश्यक होता है। इस नृत्य की सम्पूर्ण प्रक्रिया में नर्तक अनेक बार दर्शकों के मनोरंजन के लिए वादक से लागडाँट करता है और सम पर आने के लिए भाँति-भाँति के छल करता है। इस होड़ में कभी-कभी तबला वादक नये-नये बोल अपने वाद्य में बजाता है। नर्तक उतनी ही तीव्र लय में अपने पद-संचालन से उसको पुनरावृत्ति करके दर्शकों को चकित कर देता है। लयकारी का काम कत्थक नृत्य में ही पूरी उत्कृष्टता से मूर्त हुआ है। तीन ताल में सोलह मात्राएँ होती हैं। इसे जब ड्योढ़ी और सवाई या दुगुन लय में करते हैं तो नर्तक और तबला वादक को बड़ी सतर्कता से उसका निर्वाह करना पड़ता है। सवाई लय में तीन ताल की सोलह मात्राओं की जगह पर बीस मात्राएँ दीखती हैं। नर्तक सवाई लय दिखाता है और वादक उसी लय को कायम किये रहता है। चौबीस मात्राएँ दिखाने की कला ड्योढ़ी लय की लयकारी का काम कहलाता है। मात्राएँ बढ़ा कर ही नहीं सोलह से घटाकर भी इसी तरह से लयकारी दिखाई जा सकती है।

कत्थक नृत्य की गति एवं उसका आन्दोलन सीमित है। कत्थक नृत्य का

सबसे प्रमुख आन्दोलन चक्रदार आवृत्ति या घुमरियाँ हैं। पूरे नृत्य-संयोजन में इन घुमरियों की स्थान-स्थान पर पुनरावृत्ति होती है। कभी-कभी तो ये घुमरियाँ इतनी तीव्र गति के साथ प्रदर्शित होती हैं कि दर्शकों को नर्तक के सन्तुलन पर आश्चर्य होने लगता है। नृत्य का चतुर संयोजक पूरे नृत्य में इन घुमरियों को ऐसे स्थलों पर प्रदर्शित करता है जो नृत्य की दूसरी गतियों के साथ सदा समरस दिखाई पड़े। प्रायः घुमरियों की बहुतायत न केवल नृत्य में एकरसता उत्पन्न करती है वरन् उससे दर्शकों को उलझन भी होने लगती है। जैसा हम पहिले ही बता चुके हैं, प्रत्येक गति के बाद नर्तक अपनी उसी मूल मुद्रा में अवस्थित हो जाता है। इन मूल मुद्राओं को हस्तक कहते हैं। एक मूल मुद्रा का पूर्वकथित रूप एक हाथ सिर पर और दूसरा समानान्तर फैला हुआ रहता है। दूसरी मुद्रा में दोनों हाथ अन्दर की ओर समानान्तर मुड़ कर वक्ष से लगे हुए रहते हैं। इन मुद्राओं में पैरों की स्थिति का भी उल्लेख है। पाँव एक-दूसरे से आड़े या तिरछे रक्खे जाते हैं। एक पैर का अँगूठा भूमि से स्पर्श करता है और घुटने के पास से मुड़ा हुआ रहता है। इसी त्रिभंगी मुद्रा का उल्लेख पदों में आया है। हाथ की अँगुलियों में बीच की अँगुली झुककर अँगूठे से मिली होती है। ताल के साथ इन अँगुलियों में जो स्पंदन होता है वह नृत्य की सम्पूर्ण गतिमयता से सम्बद्ध रहता है। दाँयें-बाँयें सभी ओर इन चक्रों का आवर्तन होता रहता है। दर्शकों की दृष्टि से नर्तक का कोई भी प्रदर्शन पृथक् न हो, इसके लिए कत्थक नृत्यकार बहुत सतर्क रहता है। प्रदर्शन के बीच नर्तक हर बार अपने अंगों का इतनी तीव्र गति से परिचालन करता है कि लगता है कि उसके सारे अवयव कृत्रिम हैं जिन्हें किसी डोरी के माध्यम से बहुत तेज़ी से खींचा जा रहा है।

कत्थक नृत्य की संयोजना में तबले की जोड़ी, सारंगी और मंजीरे की जोड़ी वाद्यों के रूप में प्रयुक्त होती है। पूरे नृत्य में सारंगी पर एक ही धुन बजाई जाती है जिसे 'लहरा' कहते हैं। यह धुन बहुत मधुर स्वरों पर आधारित रहती है। तबला लय स्थापित करता है और नर्तक के कला प्रदर्शन में विभिन्न 'बोलों' के द्वारा रोचकता लाता है और उसे सार्थक बनाता है। किसी विशिष्ट

'आर्केस्ट्रा' या वाद्यवृन्द का इस नृत्य में कोई महत्व नहीं है और न उसकी आवश्यकता ही समझी गई है। मुस्लिम काल ने कत्थक नृत्य की वेशभूषा पर भी अपनी सहज छाप छोड़ी है। राजपूत ढंग का पहिनावा इस नृत्य के लिए कत्थकों को रुचा। चोग़ानुमा चमचमाती हुई अचकन, कसा हुआ चूड़ीदार पायजामा, सल्मे-सितारों के काम वाली चमकदार टोपी तथा अचकन पर कसा हुआ एक पटुका इस नृत्य का विशेष परिधान बना। कुछेक महिलाओं ने चूड़ीदार पायजामा के स्थान पर चुन्नटदार लंहगे को भी अपनाया है। अब तो कहीं-कहीं राधा-कृष्ण की लीला कत्थक नृत्य के माध्यम से दिखाने के लिए राधा की वेशभूषा मणिपुरी गोपियों जैसी भी की जाने लगी है। यह तथा-कथित 'प्राच्य-नृत्यों' तथा फिल्मों का प्रभाव है।

पिछले कुछ वर्षों में कत्थक नृत्य पर से कुहासा कुछ घटता दीख रहा है। उसके विषय में जिस असामाजिकता एवं अनैतिकता का दूषित वातावरण फैल गया था वह शनैः-शनैः दूर होने लगा है। कुलीन महिलाएँ और युवक भी इस नृत्य की ओर अब आकर्षित हो रहे हैं। किन्तु सम्पूर्ण भारतीय नृत्यों की पृष्ठभूमि में इस नृत्य की अभिव्यंजना का क्या महत्व है, इस पर भी दृष्टि डाल लेना आवश्यक होगा।

कत्थक नृत्य पदों की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में कभी सफल नहीं हो पाया है। उसकी नृत्य-संयोजना ही ऐसी रहती है कि वह एक संश्लिष्ट भाव को न दिखा कर छोटे-छोटे चमत्कारी भावों को यथास्थान प्रदर्शित करता है; ठीक उर्दू शायरी के 'शेर' या 'ब्रज भाषा' के चुभते हुए सवैयों और दोहों की तरह। नर्तक पद-संचालन का कौशल दिखाता है और अपने सफल ताल प्रदर्शन से बौद्धिक चमत्कार समुत्पन्न करता है। कत्थक नृत्य किसी बड़ी भाव-भूमि को लेकर चलने में अब तक असमर्थ रहा है। वरन् कहना यह चाहिए कि वह उसका अभीष्ट भी नहीं रहा है। कत्थक नृत्य भावों की स्थापना को उतना महत्व नहीं दे पाया, जितना उसने ताल को माँजने और उसकी असंगतियों से चौंकाने एवं आकर्षित करने का यत्न किया। उसका वह 'अभिनय अंश' पीछे छूट गया जिसके लिए बिंदादीन जैसे आचार्यों ने यत्न किया था।

आज ताल का कौतुक ही प्रमुख हो गया है और कत्थक नृत्य की वही चरम परिणति बन गया है। वह नृत्य न रहकर एक प्रदर्शन मात्र बन गया है।

तब उसकी सार्थकता कहाँ है ?

सम्प्रति कत्थक नृत्य का संयोजन नई दिशा में होना बहुत आवश्यक है। इसके अभाव में उसकी सार्थकता इस युग में सिद्ध न होगी। 'अभिनय' अंश को अधिक उभार कर ही इस नृत्य की संयोजना में संतुलन लाया जा सकता है। वैसे तो किसी भी आधुनिक नृत्यकार को कत्थक नृत्य की दीक्षा ग्रहण करने की बड़ी आवश्यकता है। कत्थक द्वारा ही उसके पद संचालन का पूरा नियंत्रण हो सकता है। उस पर पूरी तरह से अधिकार करके आधुनिक नृत्यकार अपने मनोभावों का सफल प्रदर्शन कर सकता है एवं रसबोध की पृष्ठभूमि में दर्शक पर अपना वांछित प्रभाव डाल सकता है। कत्थक नृत्य एक विशिष्ट अर्थ में नृत्यशास्त्र का व्याकरण जैसा हो गया है। इस व्याकरण को ही इतिश्री न मान कर यदि इसका उपयोग नई नृत्य रचनाओं के माध्यम रूप में किया जाये तो कत्थक नृत्य के विकास की निश्चित सार्थकता होगी। ● ● ●

कथाकली

●

दक्षिण भारत में मलाबार अपनी सुन्दरता के लिए अत्यन्त प्रख्यात है। दूर-दूर तक फैले हुए ताड़ और नारियल के वृक्षों की छायाएँ समुद्र की लहरों पर टूटती रहती हैं। जितना विचित्र यह क्षेत्र है उतने ही अद्‌भुत वहाँ के रहने वाले हैं और उतने ही विस्मयकारी उनके नृत्य हैं। कथाकली मलाबार का संसारप्रसिद्ध नृत्य-नाट्य है। कथाकली नृत्य का उद्‌गम अठारहवीं शती के आस-पास माना जाता है पर मूलतः वह नृत्य-नाट्य वहाँ की धरती पर अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता लगता है। कथाकली नृत्य अपने चारों ओर जिस धार्मिकता और रहस्यमयता का वातावरण बनाये रखता है, वह अनेक लोगों में जादू-टोने की क्रियाओं के निकट होने का भ्रम उत्पन्न कर देता है।

भारत की कुछ प्रमुख नृत्य-शैलियाँ

कथाकली

कहा जाता है कि कालीकट के राजा ज़मोरिन को भगवान कृष्ण ने एक स्वप्न में बताया कि वह कृष्ण-लीला का भाव-नृत्य तैयार करे और राजा को उन्होंने एक मयूर पंख वरदान के रूप में भेंट भी किया। ज़मोरिन ने ही लोकनृत्य की पृष्ठभूमि में कृष्ण-अत्तम अर्थात् कृष्ण-लीला को जन्म दिया। जब इस नृत्य की महिमा बाहर फैली तो पड़ोसी राजा कोट्टाकरा ने नर्तकों के एक दल को यह नृत्य अपने राज्य में करने के लिए निमंत्रित किया। पर ज़मोरिन ने साफ इन्कार कर दिया। तब पड़ोसी राजा ने राम अत्तम तैयार किया और वहाँ के नृत्यविशारद नाम्बूद्री ब्राह्मणों को बुलाकर राम अत्तम की लीला को अत्यन्त कलामय ढंग से प्रस्तुत कराया। धीरे-धीरे सम्पूर्ण राम-लीला नृत्य में परिवर्तित कर दी गई। इन लीलाओं को मंदिर से बाहर नृत्य-नाट्यों के रूप में करने की परम्परा पड़ी। लोक तत्वों का प्रभाव इन पर खूब पड़ा। जो हरिजन मंदिर में नहीं प्रवेश पा सकते थे, उन्होंने अपने आराध्य राम और कृष्ण की इस लीला को अपनी भावनाएँ अर्पित कर दीं। चेहरे या मुखोश लगाकर जो लीलाएँ हुआ करती थीं, उनका स्थान रूप-सज्जा ने ले लिया। ढोल और मंजीरों के सहारे ये नृत्य-नाट्य प्रभावपूर्ण ढंग से पनपे। पहिले जो गीत बहुत मुखर हुआ करते थे, वे धीरे-धीरे वाद्यों के तुमुल रोर में खो गये और दर्शकों को लगभग मूक नृत्य अभिनय ही देखने को मिलने लगा। इन नर्तकों की विशेष वेश-भूषा भी अनेक प्रभावों से युक्त दिखाई पड़ती है।

कथाकली नृत्य यूँ तो भरत-नाट्य से इस अर्थ में एकदम अलग है कि भरत-नाट्य अधिकतर लस्य नृत्य है और कथाकली में ताण्डव तत्व अधिक है। कथाकली वीर, अद्भुत और शान्त रस को स्थापित करता है जब कि भरत-नाट्य बहुधा शृंगार को ही प्रश्रय देता है। कथाकली नृत्य की अंगस्थितियाँ भरत-नाट्य की अपेक्षा जटिल नहीं होतीं किन्तु मुद्राओं की संख्या बहुत अधिक है। कथाकली में अभिनय अंग प्रधान है भरत-नाट्य में नृत्त अंग। कथाकली में एक साथ कई लोग मंच पर आकर नृत्य करते हैं किन्तु भरत-नाट्य में अधिकतर एक ही व्यक्ति अपना कौशल या चातुर्य दिखाता है। भरत-नाट्य

सिर्फ एक मनस्थिति की अभिव्यक्ति करता है और कथाकली अपने नाम के ही अनुसार एक कथा को कली के साथ प्रस्तुत करता है अर्थात् कथा को खेलकर दिखाता है। भरत-नाट्य के नर्तक गाते भी हैं पर कथाकली के नर्तक अधिकांशतः एकदम मूक रहते हैं और मात्र अभिनय से ही अपने मनोभावों को प्रदर्शित करते हैं।

कथाकली के लिए बड़ी तैयारी करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। किसी भी खुली जगह में छोटे से शामियाने के नीचे या बिना शामियाने के ही यह नृत्य प्रारम्भ हो जाता है। चाँदनी रात में यह नृत्य बहुधा देखने को मिलता है। पीतल के बड़े-बड़े दीपाधारों में दिया जलता है और उसी के प्रकाश में नर्तक अपनी कला दिखाते हैं। नर्तकों के प्रवेश करने के पहिले दो लड़के एक पर्दा हाथ से पकड़ कर खड़े हो जाते हैं ताकि दर्शकों में जिज्ञासा और कौतूहल की भावना केन्द्रित होती चली जाय। इस पर्दे को त्रिशला कहते हैं। पर्दे के पीछे एक छोटी-सी तिपाई होती है जिस पर नर्तक बैठ सकता है या अपने नृत्य में वीर रस के अंश प्रदर्शित करते हुए उसे लेकर अभिनय कर सकता है। हनुमान को जब लक्ष्मण के लिए संजीवनी बूटी लाना होता है और वे पर्वत उखाड़ कर ले चलते हैं, उस समय पर्वत का प्रतीक यह तिपाई ही बन जाती है। हर दृश्य पलटने के समय त्रिशला का उपयोग किया जाता है। नृत्य का यह कार्यक्रम प्रायः भोर तक चलता रहता है। पर्दे को उठाने-गिराने वाले लड़के दीपाधारों के दीपों में तेल डाला करते हैं और नर्तकों की दूसरी सहायता करते रहते हैं।

कथाकली नृत्य में आहार्य अंग रूप-सज्जा यानी मेकअप का बहुत बड़ा महत्व है। अक्सर इन रूप-सज्जाओं में नर्तकों को बारह घण्टे तक लग जाते हैं। रात के उत्सव के लिए दिन से ही तैयारी की जाती है। इन मेकअप को तैयार करने वाले अत्यन्त कुशल लोग होते हैं। नर्तकों के मुख पर कई बार कई ढंग से लेप चढ़ाये जाते हैं। कहते हैं कि पहिले तो बहुमूल्य रत्नों को घिस-घिसकर उनसे लेप बनाया जाता था जिससे नर्तकों का मुख रंगा जाता था पर अब रंगीन पत्थरों से ही काम निकाल लिया जाता है। इन

पत्थरों से रगड़े हुए लेप में नारियल का तेल मिला कर लगाया जाता है। हर तरह के पात्रों और चरित्रों के लिए विभिन्न लेप हैं। देवताओं और सज्जनों के लिए मुख का हरा रंग होना चाहिए जिसे पच्चा कहते हैं। दानवों और राक्षसों का मुँह लाल होता है और उसमें भयंकरता लाने के लिए काले रंगों का भी उपयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त स्त्री पात्रों का मुख सफेद या स्वाभाविक रंग का अधिकतर किया जाता है। पर शूर्पणखा और पूतना आदि राक्षसियों का मुख उसी प्रकार राक्षसों के मेकअप की भाँति ही बनाया जाता है। डाकुओं का मुख काला रंग देते हैं। साधुओं और गौण पात्रों के मुख का साधारण मेकअप होता है, इन गौण पात्रों को मिनक्कु कहते हैं। विदूषकों का मेकअप प्रायः इस ढंग का किया जाता है कि उसके बेहूदेपन को देखकर अपने आप हँसी आये। कथाकली नृत्य के मेकअप में चेट्टी का विशेष स्थान है। चेट्टी यानी चावल के माँड़ से बने हुए लेप को मेकअप विशेषज्ञ कई पर्तों में एक कान से दूसरे कान तक इस तरह चिपकाते हैं कि वह छोटी दाढ़ी की तरह लगने लगता है। कथाकली नृत्य का यह विशेष मेकअप होता है। पात्रों के अनुसार ये पर्तें अलग-अलग ढंग से बनाई जाती हैं। यह सब करने के बाद फिर मुख को बाँस की छोटी-छोटी तीलियों से रंगों के सहारे अलंकृत किया जाता है। ये सारे रंग इतने पक्के होते हैं कि नर्तकों के पसीने से वे और भी चमक उठते हैं, छूटने का तो प्रश्न नहीं उठता। कथाकली नर्तकों के बारे में यह भी प्रसिद्ध है कि वे नृत्य के दौरान में अपनी आँखों में एक छोटा-सा बीज दबा लेते हैं। इससे उनकी आँखें फूल जाती हैं और गहरे मेकअप के बावजूद भी उनके नेत्र-परिचालन अच्छी तरह दिखाई पड़ते हैं।

बड़े-बड़े किरीटों का उपयोग भी कथाकली नृत्य में ही दिखाई पड़ता है। इन किरीटों में पीछे का प्रकाश-मंडल भी साथ ही जुड़ा रहता है। पूरा किरीट और प्रकाश-मंडल रत्नों और शीशे के टुकड़ों से जड़ित रहता है जिससे कि उस पर प्रकाश पड़ते ही वह जगमगा उठता है। इन प्रकाश-मण्डलों में चित्रकला के अनेक उत्कृष्ट उदाहरण देखने को मिल जाते हैं। प्रथा यह है कि जो पात्र नृत्य में जितना ही महत्वपूर्ण होता है, उसका किरीट और प्रकाश-मंडल उतना

ही बड़ा बनाया जाता है। इसी कारण कथाकली नृत्य में प्रायः बहुत बड़े-बड़े किरीटों का उपयोग किया जाता है। तीन फीट व्यास तक के प्रकाश-मंडलों के साथ ये नर्तक नृत्य करते हैं। गले से कमर तक पूरी आस्तीन के अंगरखे (कंचुर्का) और सुनहरे गोल लँहगे पहन कर, रत्न-मालाओं और फूलों से सजकर ये नर्तक सामने आते हैं। इनके लँहगे भी कई पर्तों से बनते हैं और उनकी झालर उसी तरह काढ़ी जाती है। कई पात्र हैटनुमा टोपी भी पहिनते हैं। इन हैटों में ऊपर की ओर छोटी-छोटी घण्टियाँ लगी होती हैं। कुछ राक्षसों के मेकअप में मोरपंखों के द्वारा बनाई हुई गोल लम्बी टोपियाँ भी पहिनाई जाती हैं। मलाबार में ईसाइयों के आगमन से बहुत लोग इन लँहगों (स्कर्ट) और हैटों का सम्बन्ध जोड़ते हैं। पर जो भी हो, वे इस तरह भारतीय रंग में डूब गये हैं कि उनका मूल इस तरह ढूँढ़ना सर्वथा कठिन है। पैरों में सभी नाचने वाले कलाकार घुँघरू बाँधते हैं। इन लँहगों के कारण नर्तकों की वे कठिन पद-संचालन क्रियाएँ ठीक तरह से देख पाना सम्भव नहीं हो पाता। साथ ही इससे नर्तकों को पूरी छूट के साथ घूमने में कष्ट अवश्य ही होता है। यदि इस वेशभूषा में कुछ हल्कापन आ जाता तो शायद वे अधिक अच्छे ढंग से अपना कौशल दिखा पाते। यही कारण है कि बिना मेकअप के यदि यह नृत्य रिहर्सल की प्रकिया में देखें तो आप दंग रह जायेंगे। सारे कपड़े ओढ़ लेने के बाद नृत्य में सौष्ठव तो आ जाता है किन्तु पद-संचालन की विलक्षणता का लोप-सा हो जाता है।

कथाकली नृत्य प्रारम्भ होने के पहिले उसकी घोषणा नगाड़े पीट-पीटकर आस-पास के गाँवों में संध्या होते-होते कर दी जाती है। इसे केलीकोट्टु के नाम से पुकारते हैं। जब सब लोग एकत्र हो जाते हैं तो पर्दा हटने के पहिले उसके पीछे से वंदना और संगीत का कार्यक्रम होना प्रारम्भ हो जाता है, इसे थोड्यम और वंदना-श्लोकम् के नाम से जानते हैं। थोड्यम पर्दे के पीछे का नृत्य है। इसमें नृत्त भाग की अतिशयता रहती है। इस नृत्य को दर्शक पर्दे के पीछे जाकर देखने लगते हैं। शंखों, नगाड़ों, मृदंगों के साथ पुराप्पडु कार्यक्रम प्रारम्भ करते हैं जब कि प्रमुख नायक अपने

तेजवान सहायकों के साथ दर्शकों के सामने आता है। इसके साथ ही नृत्य में कथा का प्रादुर्भाव हो जाता है। 'थिरोनत्तम' अंश कथाकली नृत्य में प्रायः बड़ा रोमांचकारी अंश माना जाता है। कोई राक्षस पात्र जब प्रवेश करने को आता है तब वह पर्दे के पीछे से कभी-कभी अपने शिर के मेकअप की झलक नृत्य करते-करते दिखाता है। साथ ही वह पर्दे को पकड़ कर पीछे खींचता है पर पर्दे पकड़ने वाले लड़के उसे कस कर पकड़े रहते हैं। अन्त में वह अपने अत्यन्त उद्धत नृत्य से उसे हटा देता है और दर्शकों के सम्मुख भयानक पात्र की लोमहर्षक रूप-सज्जा सामने आ जाती है। थिरोनत्तम कुतूहल को जीवत कर देता है। यह ताण्डव अंग का विशिष्ट प्रदर्शन होता है। ठीक इसी तरह स्त्रियों के लिए कुम्मी है जिसमें नृत्य करने वाले स्त्री पात्र इसी ढंग से आते हैं और अपने को दर्शकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं। कथाकली नृत्य में स्त्रियों का अभिनय प्रायः पुरुष वर्ग ही मेकअप के साथ करते हैं। किशोर युवक इसका कार्य भली-भाँति सम्हाल लेते हैं। महाभारत और रामायण के विभिन्न दृश्य छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट कर इस नृत्य में दिखाये जाते हैं। पर ये कथांश अपने आप में सम्पूर्ण रहते हैं। कथाकली नृत्य की समाप्ति पर सदैव वन्दना का एक कार्यक्रम रहता है जिसमें सबकी मंगल-कामना की जाती है। यह 'भरतवाक्य' की ही तरह का होता है। महाभारत से ली गई—भीम द्वारा दुःशासन को मार कर द्रौपदी के अपमान का बदला चुकाने, द्रौपदी का उसके रक्त से अपने बाल बाँधने तथा कृष्ण द्वारा उन दोनों को आशीर्वाद देने की—कथा इस नृत्य-जगत में बहुत लोकप्रिय है। इस नृत्यांश में कथाकली के सभी प्रमुख तत्व आ जाते हैं। राक्षस के रूप में दुःशासन, देवता रूप में पाण्डुपुत्र भीम, स्त्री के लस्य नृत्य की प्रतिनिधि द्रौपदी और आशीर्वाद देने के लिए कृष्ण का उपस्थित होना पूरी कथा को एक सम्पूर्णता की शृंखला में जोड़ देता है। रामकथा के भी कई चित्र इस नृत्य में दिखाये जाते हैं जिसमें रावण का आना काफी रोमांचकारी होता है।

कथाकली नृत्य में नृत्त अंग कम होता है और अभिनय अंग की प्रधानता रहती है। कथाकली नृत्य में संकेत और प्रतीकों पर ही विशेष बल नहीं देते

वरन् वे वर्णनात्मक शैली का प्रयोग अधिक करते हैं। कथाकली नर्तक पूर्णतया दक्ष हो जाने पर लगभग पाँच सौ मुद्राओं का प्रयोग अपनी अभिव्यक्ति में करते हैं। कथाकली नृत्य की शिक्षा इसीलिए बड़ी कठिन होती है। इस नृत्य की पूरी दीक्षा लेने के लिए कम से कम दस-ग्यारह वर्ष लगाना पड़ता है। कथाकली नृत्य के लगभग तीस प्रकार माने गये हैं जिन्हें हर तरह से सीखने के लिए बड़े परिश्रम के साथ काम करना पड़ता है। पद-संचालन और अंगस्थितियों को कैसे प्रभावपूर्ण ढंग से अपनी कथा की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग में लाया जाय, इसके लिए शरीर में बड़ी शक्ति की आवश्यकता होती है। विद्यार्थी वर्ग का पहिला काम होता है अपने शरीर को उस ढाँचे में ढालना। उसके लिए बदन की मालिश की जाती है। भूमि पर लिटा कर नये विद्यार्थी की मालिश हाथों और पाँव से दूसरे विद्यार्थी करते हैं। फिर पाँव चलाना, हाथों को घुमाना और तेजी से ताल के साथ पद-संचालन का काम सिखाया जाता है। आँखों के चलाने की शिक्षा कथाकली नृत्य की बड़ी आवश्यक वस्तु है। इसे सीखने में बहुत समय लगता है। इसके अभ्यास के लिए छोटी-छोटी अनेक कथाएँ हैं जिन्हें विद्यार्थी अपने नेत्रों के परिचालन मात्र से व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं। इसकी शिक्षा इतनी कठिन होती है कि आँखों में अक्सर घाव हो जाते हैं और आँसुओं की झड़ी तक लग जाती है। एक शिकारी जंगल में जाता है जहाँ उस पर अनेक हिंस्र जीव आक्रमण करते हैं और वह सब को मार डालता है पर अन्त में उसे एक सर्पदंश से मरना पड़ता है। यह छोटी-सी कथा सभी विद्यार्थियों को प्रायः अपनी आँखों द्वारा प्रदर्शित करनी पड़ती है। ठीक इसी तरह कथाकली नृत्य में अंग के प्रत्येक संचालन पर बहुत जोर दिया जाता है। हाथ की मुद्राएँ सीखने के लिए भी बड़ा अभ्यास करना पड़ता है। कलाई, उंगलियाँ और हथेली का घुमाव किस विशेष वस्तु को प्रकट करने के लिए कैसे करना चाहिए, इसका पूर्ण ज्ञान काफी समय में प्राप्त हो पाता है।

कथाकली नृत्य में 'आर्केस्ट्रा' या साज़ों के नाम पर बहुत से वाद्य नहीं होते। प्रायः चार नगाड़े, बाँसुरी, मंजीरे तथा मुइलम (मृदंग) से काम

वल जाता है। नगाड़ों को 'चैंडइ' कहते हैं। इसे छोटे डण्डों से बजाते हैं। बाजा इतनी ज़ोर से बजता है कि पहिले तो बड़ी घबराहट-सी होने लगती है पर धीरे-धीरे वही वाद्य एक तन्मयता की सृष्टि कर देता है। नगाड़े इस नृत्य की जान हैं। हर नर्तक उसे बड़ा पवित्र समझते हैं और नृत्य प्रारम्भ करने के पहिले उसे छूकर प्रणाम करते हैं। इसके अतिरिक्त एक गायक भी होता है जो लीला गाता रहता है। पर वह लगभग नहीं के बराबर हो जाता है क्योंकि बाजों की आवाज़ में उसका स्वर डूब जाता है। इन दृश्यों के ताल बजाने वाले भी विशेषज्ञ होते हैं। अक्सर ऐसा होता है कि दृश्य बदलने पर नगाड़ची भी बदल जाते हैं।

कथाकली नृत्य भारत का ही नहीं, एशिया का अत्यन्त रोमांचकारी नृत्य है। यह नृत्य टेकनीक की दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ नृत्य माना गया है। इस मौन नृत्य में कठिनतम भावनाओं की अभिव्यक्ति सम्भव हो सकी है। बहुत सीमा तक अब से बीस-बाईस साल पहिले महाकवि वल्लातोल ने इस नृत्य के पुनरुद्धार के लिए प्रयत्न किया था और केरल कला केन्द्र को इसे प्रोत्साहित करने के लिए स्थापित किया गया। इस कठिन नृत्य को जीवित रखने के लिए अनेक विद्यार्थियों को आमंत्रित किया गया। अब आधुनिक मनोरंजन की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए इसकी अवधि भी दो-तीन घण्टे की कर दी गई है। श्रीमती रागिनी देवी और गोपीनाथ इस नृत्य को मलाबार के बाहर भी सफलतापूर्वक दिखा चुके हैं और प्रशस्ति प्राप्त कर चुके हैं। इस नृत्य में पश्चिमी नृत्य का बैले अंश भी काफी आ गया है। वल्लातोल के इस कला केन्द्र ने इस नृत्य को ठीक उसी तरह एक नया बाना पहिनाया है जिस तरह शांति निकेतन में रविबाबू ने मणिपुरी नृत्य का आधुनिकीकरण किया। ● ● ●

मणिपुरी नृत्य : पुराना और नया

●

मणिपुर की धरती नृत्य करती है। उस धरती का हर प्राणी उसी गतिमयता से भरा हुआ है जो सृष्टि को आवृत्तिपूर्ण ताल की मात्राओं में बाँधे हुए है। नृत्य वाले युवक-युवतियाँ और उनकी मंडलियाँ चारों ओर दिखाई पड़ती हैं। बहुत समय तक मणिपुर अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण वाह्य प्रभावों से यथेष्ट सीमा तक पृथक रह सका था। इसी हेतु उसकी अपनी सहज स्वाभाविकता एवं सम्पूर्णता अभी तक खंडित नहीं हो पाई है। ऊँची-ऊँची पहाड़ियों से घिरा हुआ आँगन जैसा यह प्रदेश प्रकृति की रंगशाला का मंच ही लगता है। मणिपुर के जन्म की लोककथा सम्भवतः इसी भौगोलिक स्थिति

भारत की कुछ प्रमुख नृत्य-शैलियाँ

मणिपुरी नृत्य

का परिणाम है। वहाँ के निवासियों के अनुसार मणिपुर की स्थापना ही इसी कारण हुई कि स्वर्ग के देवता वहाँ अपना नृत्य कर सकें।

इस सम्बन्ध में एक विचित्र लोककथा प्रचलित है। एक बार महारास में कृष्ण के साथ गोपियाँ नृत्य कर रही थीं, नटराज शिव ने उस नृत्य को देखने की अनुमति चाही। कृष्ण ने उन्हें केवल इतनी अनुमति दी कि वे रासलीला की ओर पीठ कर के खड़े हो सकते हैं और सुन सकते हैं। शिव ने वैसा ही किया। किन्तु महारास की नृत्य लीला, घुंघरुओं, मृदंगों एवं वंशी की सम्मिलित ध्वनियों का कुछ ऐसा जादू उन पर चढ़ा कि वे बेचैन हो गये और अपना वचन भूल गये। शिव ने तत्काल ही पार्वती के साथ रास रचाने का निश्चय किया और उन्होंने मणिपुर का स्थल इसके लिए चुना। उसी क्षण उन्होंने पेंगा (खोल) और 'पेना' (चिकारा जैसी सारंगी वाद्य) का आविष्कार किया जो इस नृत्य के साथ के वाद्य यंत्र बने। शेषनाग की मणि से सारा प्रदेश रास के समय में जगमग-जगमग होने लगा। इसी कारण पूरा प्रदेश ही मणिपुर कहलाया।

मूलतः अपने देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए ही मणिपुर के निवासी आज भी नृत्य करते हैं। उनका प्राचीनतम नृत्य 'लाइहरोबा' वही नृत्य है जिसे शिव और पार्वती ने पहिली बार मणिपुर प्रदेश में अपने पदसंचालनों से निर्मित किया था। मणिपुर के लोगों का विश्वास है कि देवता की प्रसन्नता पर ही उनकी कृषि निर्भर करती है, उसी पर उनका जीवन निर्भर करता है और सारा संसार भी उसी पर निर्भर है। देवता अप्रसन्न हो कर धरती पर रोग ले आते हैं। अकाल और महामारी को निमंत्रित करते हैं, पीड़ित करते हैं और उनकी अप्रसन्नता से चारों ओर हाहाकार मच जाता है। अतः उन्हें प्रसन्न करने के हेतु 'लाइहरोबा' का नृत्य वर्ष में एक मास समारोह के साथ मनाया जाता है। नई फसल बोने के पहिले देवता को प्रसन्न करना वे अति आवश्यक मानते हैं। इसी कारण यह नृत्य अप्रैल-मई के आसपास नई फसल रोपने के पहिले किया जाता है। वैसे यह नृत्य चिरंतन नृत्य है। वर्ष में अन्य अवसरों पर भी लाइहरोबा नृत्य का प्रदर्शन होता रहता है।

लाइहरोबा का यह नृत्य वस्तुतः ग्राम देवता को समर्पित रहता है। ये देवता 'उमेंङलाइ' कहलाते हैं। भारतीय ग्रामों के ढीह की भाँति 'उमेंङलाइ' भी मृत्तिका के छोटे-छोटे ढूह होते हैं। इन ढूहों में वे सारी शक्ति आरोपित कर उनकी पूजा सर्वोपरि सर्वशक्तिमान के रूप में करते हैं। उन्हें में अपने नृत्यों से रिझाने की चेष्टा करते हैं। 'उमेंङलाइ' मणिपुर के आदि देवताओं में हैं। इन्हीं ढूहों में क्रमशः शैव मत के विकास के साथ शिवलिंगों की स्थापना कर ली गई और वे शिव-पार्वती के प्रतीक बन गये।

'उमेंङलाइ' के पुजारी 'मैबा' कहलाते हैं और पुजारिनें 'मैबी'। अन्ध-विश्वासों का प्रश्रय देकर उसे भलीभाँति ग्रामजीवन का अंग बनाना ही इन पुजारियों का कार्य है। जादू-टोना, मंत्र, मारण मोहन, सम्मोहन, उच्चाटन क्रियाएँ, भविष्य वाणियाँ और भूतप्रेत की बाधा हटाना—आदि कार्य ही मैबा और मैबी अपने जीवन का उद्देश्य समझते हैं। मैबियों के संस्थान की भी विचित्र कथा है। यौवन में जिन विशिष्ट शरीरों में 'उमेंङलाइ' की आत्मा प्रवेश कर जाती है, वे ग्राम देबता की दासी बना दी जाती हैं। उनकी सात-आठ मास की दीक्षा होती है, और फिर वे ग्राम देवता की पुजारिन—'मैबी' बना दी जाती हैं। अस्तु। किन्तु मैबा और मैबियों का मणिपुरी नृत्य के विकास में बहुत बड़ा हाथ रहा है। मणिपुरी नृत्य के इस अंश को धार्मिक नृत्य स्वीकार कराने और जनजीवन में उसका इस रूप में प्रचार करने में मैबा और मैबी पूर्णरूप से सफल रहे। 'लाइहरोबा' का जो रूप प्रचलित है वह सामान्यतः पूरे क्षेत्र में एक जैसा ही देखने को मिलता है। बहुत सीमा तक यह एक धार्मिक क्रिया है किन्तु इसमें नृत्य के विविध तत्वों की प्रधानता रहती है। दर्शकों का मनोरंजन तथा उनमें पूर्णता, विराटता तथा धार्मिकता का सन्देश पहुँचाना, यह भी इस नृत्य का साध्य रहा है। 'लाइहरोबा' का नृत्य अपनी भाव भंगिमाओं से जैसे महानतम सृष्टि की ओर संकेत करता रहता है। उसके आन्दोलन उसी विराट् कल्पना के अंश दीखते हैं। विश्व किन तत्वों से निर्मित है, इसे वे बार-बार दोहराते रहते हैं और अपने सतत् प्रयत्नों से पहिचानने की चेष्टा करते रहते हैं। नृत्य का यही अंश उनके

दर्शन, उनकी आध्यात्मिकता और उनकी आस्था का परिचायक है जो लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करता है। मणिपुर प्रदेश में अभी कृत्रिम सभ्यता का पूरा जाल नहीं फैल सका है इस कारण उनके इस जीवनव्यापी आनन्द तत्व में नकली आँखों को अश्लीलता के भी दर्शन होते हैं। पर यह उन आँखों का दोष अधिक है, जीवन की रससिक्त प्राणवान आस्था का नहीं है।

पन्द्रहवीं शती के आसपास मणिपुर क्षेत्र में वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ। गौरांग महाप्रभु चैतन्य का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। नाम-कीर्तन, लीला, रास तथा नृत्य ने नये रूपों में मणिपुर की धरती को स्पर्श किया। राधाकृष्ण की लीलाओं के माध्यम से चैतन्य को ही कृष्ण रूप में जन-मानस ने स्वीकार कर लिया था। 'सन्ध्या-आरती' की बेला घर-घर में गाई जाती है। धार्मिक पर्वों पर कीर्तन का विशद् आयोजन किया जाता है। इन कीर्तनों में मंजीरे, करताल और खोल (मिट्टी का बना हुआ एक प्रकार का मणिपुरी मृदंग) आदि वाद्यों का प्रमुख रूप से प्रयोग किया जाता है। अर्धवृत्ताकार और वृत्ताकार मंडलों में घूम-घूम कर वे कीर्तन करते हैं। नर्तकों के चंदन-चर्चित माथे श्वेत पगड़ियों से सुशोभित रहते हैं। धोती, उत्तरीय और पगड़ी यही उनकी वेशभूषा होती है। उनका विश्वास है कि कीर्तन के समय में स्वयं चैतन्य महाप्रभु उनके बीच उपस्थित रहते हैं। कीर्तन असीम तन्मयता की ओर आकर्षित करता है। यह नृत्य उसी तन्मयता का एक अंशमात्र होता है। अपने वाद्य यंत्रों के साथ ये कीर्तनकार जिस प्रकार नृत्य करते हैं वह एक अद्भुत रस की सृष्टि करता है। उनकी गतिमयता द्रष्टव्य होती है। पाँव की ओर झुक-झुक कर पीछे मुड़ना, शरीर को अत्यन्त सुकुमार लता की भांति भावनाओं की आँधी के थपेड़ों में छोड़ना, करतालचालन, पंग (खोल) चलन आदि इस नृत्य के प्रभावशाली अंश हैं। चलन घटन के नाम से यह नृत्य वैष्णव संस्कृति की एक अपूर्व देन है। इस नृत्य की परम्परा बंगाल के कीर्तन नृत्य से बहुत प्रभावित है।

स्त्रियों का एक विशेष कीर्तन नृत्य 'रासेश्वरी' के नाम से मान्य है। यह कीर्तन मणिपुर के राजपरिवारों में प्रचलित है। विशेषतः उस परिवार के

सदस्यों की मृत्यु के सम्बन्ध में यह कीर्तन होता है। इसमें विषाद और करुणा की भावनाएँ अपेक्षाकृत परिलक्षित होती हैं।

रास लीला नृत्य मणिपुर का सब से प्रधान लोकमान्य नृत्य है। 'रास' कृष्णभक्ति की एक विशिष्ट वस्तु है। रास का उल्लेख भागवत में जिस प्रकार का मिलता है, मणिपुर-वासियों ने उसे बहुत सीमा तक जीवित रखने का प्रयास किया है। भावों का नृत्य द्वारा उदात्तीकरण रास-लीला में प्रमुख महत्व रखता है। रासलीला के नृत्यों में भाग लेने के लिए विशिष्ट गायकों को निमंत्रित किया जाता है। रास नृत्य सीखने के लिए मणिपुर की अनेक युवतियाँ शिक्षित व्यक्तियों से शिक्षा ग्रहण करती हैं। रासलीला में भाग लेने वाले व्यक्ति अपना परलोक सँवारते हैं, ऐसा उनका विश्वास है। रासलीला नृत्यों के लिए 'रासमण्डल' का निर्माण किया जाता है। 'रासमण्डल' उस 'पंडाल' या उस क्षेत्र को कहते हैं जहाँ पर रास का आयोजन किया जाता है। विभिन्न क्षेत्रों से रासलीला की मंडलियाँ इसमें भाग लेने के लिए एकत्र होती हैं। रासमण्डल के चारों ओर दर्शकों के बैठने की व्यवस्था की जाती है।

रासलीला का कार्यक्रम प्रायः छः-सात घण्टे तक चलता है। रासलीला के मध्य संवाद-अभिनय आदि भी होते हैं किन्तु नृत्य की प्रमुखता रहती है। रासलीला का यह कार्यक्रम कृष्ण, राधा तथा गोपिकाओं के माध्यम से सम्पन्न होता है। कृष्ण का अभिनय दस-बारह वर्ष का कोई बालक करता है। अधिक वय के बालक को रासलीला के कार्यक्रमों में स्त्रियों के साथ नृत्य करने और उसमें भाग लेने की अनुमति नहीं है। राधा तथा उनकी सखियों का अभिनय पटु नर्तकियाँ करती हैं। रासलीला नृत्य भारतीय 'आपेरा'—'संगीतमय-नृत्यनाट्य' का अपूर्व उदाहरण है।

उल्लेखनीय रासलीलाएँ चार प्रकार की हैं। वसंतरास वैशाख मास में, कुंजरास आश्विन मास में, महारास कार्तिक में होता है और नित्यरास किसी भी समय, किसी अवसर पर किया जा सकता है। वसंतरास—रूठी हुई राधा को कृष्ण द्वारा मनाने का सम्पूर्ण प्रयास है। कृष्ण, राधा के सम्मुख आत्म-समर्पण करते हैं और राधा उन्हें क्षमा करके पुनः स्वीकार कर लेती हैं। कुंज-

रास—राधा और कृष्ण के संयोग-शृंगार का नृत्य है। इसमें उनका विरह नहीं है। कुंजों में राधा और कृष्ण का विभिन्न रूपों में विहार प्रदर्शित करना इस रासनृत्य की अपनी विशेषता है। महारास—नृत्य में राधा और कृष्ण का विरह है। राधा को कृष्ण त्याग कर चले जाते हैं। राधा उनके वियोग में प्राण त्यागने का निश्चय करती हैं और अंततः पुनः उन्हें कृष्ण की प्राप्ति होती है। नित्यरास—राधा-कृष्ण की विरह और मिलन-लीला को प्रदर्शित करने वाला नित्यरास है। इसे कभी भी किया जा सकता है। आत्मा और परमात्मा का विछोह तथा आत्मा द्वारा उस परम तत्व को पाने का यत्न एवं उसी में समर्पित हो जाने की भावना, इन सभी रासलीलाओं की मूल प्रेरणा रही है। राधा और कृष्ण के माध्यम से गोपिकाओं को कृष्ण के साथ नृत्य प्रदर्शित कर वे अपने दर्शकों में वही रसबोध जाग्रत करने की चेष्टा करते हैं।

रासलीला नृत्य के नर्तकों की रूपसज्जा तथा वेशभूषा बहुमूल्य होती है। उनकी वेशभूषा देखकर मन ठगा-सा रह जाता है। कहते हैं कि मणिपुर के महाराज जयसिंह, जो मणिपुरी रासलीला के इस प्रकरण के जनक माने जाते हैं, इस महान् नृत्य की अपूर्व वेशभूषा के लिए भी श्रेयी हैं। भव्यता, सुन्दरता, तथा गरिमा इस वेशभूषा की अपनी परम्परा बन गई है। केशों की सज्जा भी विभिन्न रासलीलाओं के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार से की जाती है। वसंतरास तथा अन्य रासलीलाओं में जूड़ा पीछे की ओर रहता है। महारास में जूड़ा शिर के मध्य भाग में शिव की जटा की भांति बनाया जाता है और कुंजरास में यही जूड़ा शिर के बाईं अथवा दाहिनी ओर चला जाता है। फ़ैशनेबुल समाज की बहुत-सी रमणियाँ इस प्रकार का जूड़ा आजकल किये हुए दिखाई पड़ती हैं। यह मणिपुर केश-विन्यास है। रासलीला की नर्तकियाँ—राधा और गोपियाँ—एक गोल घुमावदार लहँगा पहिनती हैं। यह लहँगा बहुधा लाल रेशम का होता है। नीचे दफ़्ती या बेंत की छड़ियाँ लगा कर लहँगे को एक दिशा में ही घूमने के लिये 'सेट' कर दिया जाता है। लहँगे के ऊपर से एक छोटी-सी घँघरिया रहती है जो लहँगे को आधी दूर तक ढँक लेती है। इन लहँगों और घँघरियों में अबरक के छोटे-छोटे असंख्य टुकड़े लगे रहते हैं जो

प्रकाश पाते ही जगमगाने लगते हैं। छोटी और कसी हुई चोली भी इसी प्रकार भड़कीले रंगों और गोटे चाँदी के काम से चमकती रहती है। इस सब पर एक झीनी महीन ओढ़नी लटकती रहती है जो नर्तकी का मुँह भी ढँके रहती है किन्तु पारदर्शी होने के कारण उसके मुख का हर भाव दिखाई पड़ता रहता है। विविध प्रकार के लेपों और चन्दनों से उसका मुख रंजित रहता है। कृष्ण की वेशभूषा मोरमुकुटयुत, पीताम्बरधारी, मुरली, बैजयन्तीमाल सहित ही दिखाई पड़ती है।

रासलीला का कार्यक्रम कीर्तन से प्रारम्भ होता है। 'गीतगोविन्द' और 'गोविन्द लीलामृत' से पाठ किये जाते हैं। सूत्रधार जब रासलीला का मंतव्य बता चुकता है तो सर्वप्रथम कृष्ण उस रास मण्डल में आते हैं। कृष्ण का नृत्य होता है। उसके पश्चात् राधा का गीत पृष्ठभूमि से उठता है और राधा का प्रवेश दिखाई पड़ता है। दोनों की अवतारणा के पश्चात् वृन्दा सखी द्वारा दोनों का मिलन होता है। रासलीला के मध्य में 'भंगी' नृत्यों का प्रदर्शन होता है, जिसमें कृष्ण एवं राधिका की मानलीला तथा उनका प्रणय संलाप दिखाया जाता है। 'भंगी परेड' के नाम से जाना हुआ नृत्य अत्यन्त महत्व-पूर्ण होता है। राधा और गोपिकाओं द्वारा कृष्ण की प्रार्थना अंत में की जाती है। भंगी नृत्य लाइहरोबा नृत्यों से बहुत सीमा तक प्रभावित है। इनमें भी जीवन के रसतत्वों पर ही अधिक बल दिया गया है। रासलीला की प्रार्थना बहुधा 'अबीर खेल' नृत्य द्वारा होती है जिसमें सब सखियाँ एक-दूसरे पर अबीर-गुलाल फेंकती हैं। आरती के पश्चात् रासलीला का कार्यक्रम समाप्त होता है।

रासलीला नृत्यों में कृष्ण के जीवन की विविधता विभिन्न रूपों में परि-लक्षित होती है। उस जीवन के प्रति रागात्मक दृष्टि ही मणिपुर नृत्य की रासलीला का प्राण है। गोपियों के साथ कृष्ण का विभिन्न रूपों में प्रकट होना तथा उनकी सेवाएँ एवं समर्पण स्वीकार करना यही इन रास लीलाओं का मंतव्य है। 'लघुरास' में गोपियाँ कृष्ण के साथ रास रचाती हैं और कृष्ण से अपना प्रेम निवेदन करती हैं। कृष्ण को विविध रूपों में हर गोपी प्राप्त

कर लेती है। उसी में उसकी सम्पूर्ण तुष्टि है। इन रासों के अतिरिक्त मणिपुर में गौर लीला भी होती है जिनमें गौरांग महाप्रभु की जीवन लीला का प्रदर्शन किया जाता है। मणिपुर की रासलीलाओं में इसका भी महत्व है।

कार्तिक मास में गोपाष्टमी के उत्सव में गोष्ठलीला बड़ी धूम से मनाई जाती है। गोष्ठलीला में कृष्ण और गोपों का नृत्य दिखाया जाता है। कालिय-दमन की लीला भी प्रायः इसमें देखने को मिलती है। कृष्ण किस प्रकार गोचारण लीला करते थे इसका प्रदर्शन इन लीलाओं में भलीभाँति किया जाता है। कृष्ण के इन सभी नृत्यों में मानवता के लिए एक अत्यन्त उदात्त भावना का संकेत प्राप्त होता है। यही इन सभी नृत्यों एवं लीलाओं की लोकप्रियता का रहस्य है।

दुर्गा पूजा अथवा दशहरा के दिनों में मणिपुर में अस्त्र विद्या का भी प्रदर्शन होता है। इन नृत्यों में नटों की जैसी कलाबाज़ी और शारीरिक चमत्कारों का विशेष महत्व रहता है। 'रावण का मरण' आदि विषय वस्तु उसी प्रकार दिखाया जाता है जैसा उत्तरी भारत में रामलीलाओं में किया जाता है।

हम कह चुके हैं कि मणिपुर की धरती ही नृत्य की धरती है। जितने भी प्रकार के नृत्यों का उल्लेख किया गया है, वे सब वहाँ के अत्यन्त प्रसिद्ध नृत्य हैं। इनके अतिरिक्त मणिपुर के लोक नृत्य भी अनेक हैं और वे भी दर्शकों को आकर्षित करने में पूर्णतया समर्थ सिद्ध होते हैं। 'तबला चोंगबी' आदि ऐसे ही नृत्य है। मणिपुरी नृत्य वृत्ताकार नृत्य शैली पर आधारित है। मणिपुर का नृत्य संसार की प्रजनन क्रियाओं तथा निर्माण के तत्वों को सम्पूर्णता देने की चेष्टा करता है। मणिपुरी नृत्य में हाथ का परिचालन एक-दूसरे के विपरीत होता है। चक्रदार आन्दोलन गति होती है और पद-संचालन तांडव के अधिक निकट होता है। वैसे मणिपुरी नृत्य में पद-संचालन का विशेष महत्व नहीं होता। शेष शरीर का आन्दोलन और उसकी विशिष्ट भाव-मुद्रा ही उस नृत्य का स्वरूप उपस्थित करती है। मणिपुरी नृत्यों की भाव-मुद्राएँ प्रायः किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त नहीं होतीं। वे अलंकार की भाँति नृत्य में शोभा के

लिए प्रवेश पाती हैं। वे नृत्य में सौन्दर्य मात्र उपस्थित करती हैं। इसी हेतु उन मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है। मणिपुर के निवासी अपनी समस्त कला को नृत्य के माध्यम से अपने इष्टदेव को समर्पित करना चाहते हैं। यही उनके नृत्य का अभीष्ट है।

मणिपुरी नृत्य की लोकप्रियता बढ़ाने में रवीन्द्रनाथ टैगोर को बहुत बड़ा श्रेय है। उन्होंने इस शैली को शान्तिनिकेतन में नृत्य-शिक्षा का माध्यम बनाया। उनकी कला को इस माध्यम से बड़ी शक्ति मिली। पर टैगोर ने मणिपुरी नृत्य के उस रूप को बहुत कुछ अपने अनुरूप ढालने की चेष्टा की। उनकी इस चेष्टा में मणिपुरी नृत्य का असली रूप अवश्य ही कुछ खो गया। किन्तु देश के अधिकांश कला प्रेमी लोग जो नृत्य की एकरसता से ऊब गये थे, उनके लिए इस नूतन मणिपुरी नृत्य ने एक नया रस उत्पन्न किया। रवि बाबू के इस प्रयास को नृत्य संसार में विविध दृष्टिकोणों से देखा गया है। कुछ ने उनकी बहुत प्रशंसा की है और कुछ का विचार है कि उन्होंने इस नृत्य की शुद्धता नष्ट कर दी। पर कुछ भी हो, रवि बाबू ने इस नृत्य को परिष्कृत कर के ही सही, यदि नृत्य-जगत् को पहिचनवाने की चेष्टा की तो उनके प्रयास की सराहना ही करनी वांछनीय है। रवि बाबू ने इस नृत्य के परिचालनों को अधिक तोड़ा-मरोड़ा नहीं—हाँ, उस माध्यम को बँगला वातावरण के अधिक अनुकूल बनाने के लिए यत्न अवश्य किया। आधुनिकतम युग में उस कला की सार्थकता को नया अर्थ देने का रवि बाबू का अकेला प्रयास था।

मणिपुरी नृत्य नया हो कर भी पुरी परम्परा से जुड़ा हुआ है। वह धरती का नया नृत्य है और उसके संस्कार अब भी हमें उन्हीं महान् तत्वों का आभास देते हैं जिनको ग्राह्य बनाने के लिए इन नृत्यों का निर्माण हुआ था। जीवन को रससिक्त करके मानवीय संवेदनाओं को और भी उदात्त बनाने में मणिपुरी नृत्य आज भी पूर्णतया सक्षम है—यही इस नृत्य की सार्थकता है। ● ● ●

आधुनिक नृत्य : सीमाएँ और सम्भावनाएँ

●

संसार का सबसे विलक्षण, अद्वितीय और रोमांचकारी भारतीय नृत्य जन-मानस से हट कर केवल राजदरबारों और मन्दिरों में ही घुटघुट कर मर जाता यदि अन्ना पावलोवा ने अपने नृत्यों से यह सिद्ध न कर दिया होता कि इस कला के माध्यम से भी रससिद्ध संवेदनशीलता को सहज भाव से प्रेषणीयता मिल सकती है। विदेशी महिला अन्ना पावलोवा की यह देन आधुनिक भारतीय नृत्य में अनूठी है जिसने इस क्षेत्र में नई चेतना के ज्वार उठा दिये—उन ज्वारों में वे भावनाएँ डूबने-उतराने लगीं जो यह सोच रही थीं कि भारतीय नृत्य यौन-वृत्तियों को उभारने वाला उद्दीपन का एक साधन मात्र है।

भारतीय नृत्य 'नाच' बन कर रह गया था। किन्तु नये युग में लोक तत्वों की ताज़गी ने हमारे देश के कलाकारों को आकर्षित किया। मणिपुरी नृत्यों से बंगाल में रविबाबू प्रभावित हुए। उधर उदयशंकर ने अन्ना पावलोवा के साथ नृत्य में यह पाया कि यह शक्तिशाली माध्यम है। श्रीमती रुक्मिणी देवी ने पहली बार लोगों की रूढ़ि-भावना को, यह दिखा कर कि अच्छे कुल की लड़कियाँ और स्त्रियाँ भी नृत्य कर सकती हैं, अच्छी ठेस लगाई। फिर तो जैसे एक पूर्वनिश्चित तालबद्ध नृत्य में क्रम से कलाकार उठते चले आते हैं उसी तरह लोग उठने लगे—रागिनी देवी, मृणालिनी, गोपीनाथ, रामगोपाल, अमला, साधना बोस, सिमकी-पाँति पर पाँति उठती चली आई।

अन्ना पावलोवा ने अपने नृत्यों में पौराणिक कथाओं के चित्र भी प्रस्तुत किये थे। उन्हें देख कर लोगों को पहली बार यह समझ में आया कि नृत्य मात्र नटबाजी नहीं है, वह कुछ और भी दे सकता है—कुछ ऐसा जो हमारे मन को गहरे स्तर पर छूता है और मन के उस आनन्दतत्व को जगाता है जो दूसरे ढंग से सम्भव नहीं हो पाता। नृत्य के इसी तत्व को और भी बोधगम्य बनाने की चेष्टा होने लगी। नई चेतनाएँ, नये अर्थ उभर कर सामने आये। शास्त्रीय नृत्य को पृष्ठभूमि बना कर युग की परिस्थितियाँ अपनी छाप छोड़ने लगीं। उदयशंकर ने बेकारी के प्रश्न को लेकर, यंत्र और श्रमिकों की समस्या को ले कर, राष्ट्रीय भावनाओं को समेट कर नये-नये नृत्यों की संयोजना की। रविबाबू ने शास्त्रीय नृत्य से ताल की रूढ़िमयता तोड़ कर पहली बार नया प्रयोग किया। रस और आनन्द की सृष्टि को ही उन्होंने एकमात्र लक्ष्य बनाया जो कि बंगाल के तरुण कलाकारों में बहुत लोकप्रिय हुआ। केवल आंशिक अभिनय ही नहीं, टैगोर के गीत भी उनके नृत्यों की भावपीठिका बने। वे गीत जो टैगोर की रहस्यमयी भाषा के उदाहरण मात्र बन कर रह गये थे वे नृत्यों का सहारा पा कर खिल उठे, साकार हो उठे। सीधे-सादे अंग परिचालनों, भावनाओं के प्राधान्य, नाटकीयता और कथातत्व ने सबको बरबस मोह लिया। मलाबार में कवि वल्लातोल ने इसी तरह कथाकली के अत्यन्त सशक्त जन नृत्य नाट्य के पुनर्जागरण का यत्न किया और उसकी विशिष्टता

को सँजो कर देश की नई चेतनाओं की अभिव्यक्ति की चेष्टा की। पिछले तीस-चालीस वर्षों में भारतीय नृत्य में यह नये चिह्न प्रकट हुए और क्रमशः उनका विकास हुआ।

नृत्य के इस पक्ष के प्रति आग्रह बढ़ता ही गया। आधुनिक नृत्य में बैले—भावनाट्य, भावनृत्य, अधिक लोकप्रिय होने लगे। एक ओर जहाँ पुरानी संस्कृति और पौराणिक गाथाओं को आधार मान कर 'शिव ताण्डव' (नये रूप में) 'लंका दहन', 'रासलीला', 'कार्तिकेय नृत्य', 'महिषासुर वध', 'कुमार सम्भव', 'पंचतंत्र', 'चित्रांगदा' जैसी कथाओं की पृष्ठभूमि पर नृत्य रचना हुई वहाँ दूसरी ओर 'श्रमिक और मशीन' (लेबर एण्ड मशीनरी), 'जीवन की गति' (रिद्म आफ लाइफ), 'डिस्कवरी आफ इण्डिया', 'बेकार ग्रेजुएटों का नृत्य', 'शान्ति का सन्देश' जैसी नई भावभूमि पर भी नृत्य-नाट्य तैयार हुए। बौद्धिकता और यथार्थवाद के इस युग में इस प्रकार के नृत्यों ने शीघ्र ही जमीन पकड़ ली। किन्तु जिन कलाकारों के माध्यम से ये नृत्य-संयोजन मंच पर उतरे उनके सम्मुख रस-तत्व भी उतना ही महत्वपूर्ण था जितना कि इनका बौद्धिक स्तर। इसलिए दर्शकों को न केवल बौद्धिक सन्तोष मिला वरन् उन्हें इन नृत्यों में एक नया रस मिला जिससे वे सर्वथा अपरिचित थे। नृत्य का यह नया दौर अब तक के दरबारी अथवा मन्दिरी नृत्यों की एकांगिता से भिन्न था। उस छत्र-छाया से हट कर नृत्य और नृत्यकार पहली बार जीवन के अधिक निकट आये और दर्शकों को लगा कि नृत्यकार मात्र एक परिकल्पित आनन्द की ही सृष्टि नहीं कर रहा है वरन् वह उनके अपने मन की अभिव्यक्ति भी कर रहा है। नृत्यकार जीवन से सीख रहा है और उसे सुन्दर से सुन्दर बनाने का प्रयत्न कर रहा है। दर्शकों और नृत्यकार के बीच का यह लगाव बहुत काल बाद फिर प्रतिष्ठित हुआ।

किन्तु किसी कला की उपयोगिता पर जब व्यावसायिक दृष्टि पड़ती है तो उसका मालिक भगवान ही होता है। नृत्य की लोकप्रियता सिनेमा के व्ययसायियों के हत्थे चढ़ी। पश्चिमी ढंग की सस्ती और अश्लील भंगिमाओं के साथ जब कठपुतलियों सरीखी कमर और गर्दन पंजाबी ठेके पर लचकने

लगी तो भारतीय नृत्य की गरिमा और सौम्यता अपने आप ही फिर बलिवेदी पर चढ़ गई। हर फिल्म थियेटर 'जिन्दा परियों के नाच गाने' से परिपूर्ण होने लगा। फिल्म को 'बॉक्स आफिस हिट' बनाने के लिए ये नृत्य उसके आवश्यक अंग बन गये। (किन्तु इधर सिनेमा के क्षेत्र में भी कुछ नये प्रयोग किये गये हैं। पुराने नृत्यों को झलक देने वालों में 'झनक-झनक पायल बाजे' और नई गतियों को समेटने वाले उदयशंकर कृत 'कल्पना' उल्लेखनीय हैं।)

सम्प्रति नृत्य का विकास कई दृष्टियों से अवरुद्ध है। नृत्यकला के नाम पर शास्त्रीय अध्ययन यथेष्ट होने के बावजूद सही मूल्यांकन कर के उसे वैज्ञानिक शिक्षा में उतारने वाले बहुत ही कम कलाकार हैं। नृत्य की शास्त्रीय शिक्षा देने वाले गुरुओं का ही अभाव है और यदि मिल भी जाते हैं तो वे आधुनिक प्रवाहों को बहुत निम्न और निकृष्ट वस्तु समझ कर उनकी अवहेलना करते हैं। जो शिक्षार्थी हैं उनमें न तो धैर्य है और न साधन। थोड़ा बहुत हाथ पैर चलाना आ गया तो वे अपने आप को 'मास्टर' घोषित कर देते हैं और नृत्य के नाम पर अपनी सारी उछलकूद से पर्चेबाजी, अखबारबाज़ी और विभिन्न संस्थाओं के प्रचार के बल पर 'नटराज' की पदवी पा जाना चाहते हैं। परम्परागत शास्त्रीय नृत्यों का अध्ययन न होने के कारण नींव ही कमजोर पड़ जाती है। पद-संचालन का सौष्ठव खो जाता है और आंगिक अभिनयों में वे इस प्रकार की मुद्राओं का प्रयोग करने लगते हैं जिनके अर्थ उन मुद्राओं के सहारे तो बोधगम्य हो ही नहीं सकते। भारतीय नृत्य का अध्ययन समकालीन मूर्ति, स्थापत्य और चित्रकला को ध्यान में रख कर करने की प्रवृत्ति अभी सीखने वालों में है ही नहीं। विभिन्न अंग स्थितियाँ, मुद्राएँ, भंगिमाएँ, केशविन्यास हमें तत्कालीन मूर्त्तियों में, चित्रकला में और मन्दिरों में बहुतायत से दिखाई पड़ती हैं। कुछेक तो ऐसी मुद्राएँ हैं जिनका भारतीय-नृत्य में से क्रमिक लोप-सा हो गया है किन्तु वे हमारी मूर्तियों में अब भी चित्रित दीख पड़ती हैं। उनका अध्ययन करके नृत्य की भावी संभावनाओं का काम अभी तक पूरी तरह से नहीं उठाया गया है।

नृत्य एक ऐसी परमुखापेक्षी कला है जो संगीत और ताल के बिना अधूरी

लगती है, फीकी लगती है, उसका स्वरूप नहीं खिलता। संगीत नृत्य की भाषा को मुखरित करता है। भाव की गतिमयता और सूक्ष्मता वाद्यवृन्दों के सहारे अधिक प्रेषणीय बन जाती है। उसका प्राण बोलने लगता है। पर नृत्यकारों का कुछ ऐसा दुर्भाग्य-सा रहा है कि देश के अच्छे और प्रथम श्रेणी के संगीतज्ञों का सहयोग उन्हें नहीं के बराबर ही मिला है। इस कारण नृत्य अपनी सहज गरिमा और प्रभावोत्पादकता को कभी पूर्ण रूप से प्रदर्शित नहीं कर पाया। नृत्य को संगीतज्ञों ने उसका वांछित सम्मान नहीं दिया। उसे संगीत की अपेक्षा घटिया समझा। इसीलिए नृत्यकारों को हमेशा 'सेकेंडरेटर' या 'कैरियरिस्ट' संगीतज्ञों का ही साथ मिला। इसमें यद्यपि उस्ताद अलाउद्दीन खाँ जैसे कुछ अपवाद अवश्य हैं। किन्तु पूरी तरह से नृत्य की यह सीमा-रेखा उसे बहुत कुछ वह नहीं प्रस्तुत करने देती जिसके माध्यम से वह सक्षम कला कहला सके।

रंगमंच की असुविधाएँ भी भारतीय नृत्यकला में परिधियाँ बनाती हैं। अनेक बार, अनेक तरह से बात कही जाने पर भी यह सत्य है कि हमारा रंगमंच अभी पश्चिम की अपेक्षा बहुत अविकसित है। एक ही तरह का एकरस स्टेज होने के कारण न तो हर नृत्य की पूर्व-पीठिका या 'सेट' तैयार किया जा सकता है और न नृत्यकार को इतना स्थान ही मिल पाता है कि वह बड़े बड़े नृत्य-नाट्यों की आयोजना कर सके जिसमें कई सहयोगी नर्तक एक ही दृश्य को बड़े पैमाने पर प्रस्तुत कर सकें। इस कारण बहुत ही नृत्य-गाथाएँ और 'बैले' हमारे भारतीय रंगमंच पर सफलता पूर्वक नहीं आ सकते। कलाकार जिस विराट कल्पना का आभास, अपने शरीर के छोटे-छोटे आन्दोलनों—नेत्र-परिचालन, भ्रू-परिचालन, कंपन आदि अनेक क्रियाओं—से देने का प्रयास करता है वह उचित प्रकाश-व्यवस्था के अभाव में निरर्थक सिद्ध होता है। उसका विशिष्ट प्रदर्शन प्रकाश के ही माध्यम से हो सकता है। न केवल इतना वरन् समुचित प्रकाश व्यवस्था का निर्देशन कलाकर के भावों का उत्स बढ़ाने में भी अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है। रात-दिन और समय के निर्देशन के अतिरिक्त भावनाओं का ऊहापोह और संघर्ष प्रकाश की किरणों, आलोक

चक्रों और परोक्ष ज्योतियों से जिस तरह किया जा सकता है, वैसा अन्यथा करना कठिन है। पश्चिमी रंगमंच के संयोजकों ने तो प्रकाश संयोजन से बड़े-बड़े कमाल कर दिये हैं। दूरी और शून्यता का आभास प्रकाश के ही मध्यम से दिया गया है। कल्पना-लोकों की रंगमयता प्रकाश से ही उभारी गई है। और तो और, एक 'बैले' में तो आधुनिक युग की एक 'फैक्ट्री' ही प्रकाश की व्यवस्था से मंच पर प्रदर्शित कर दी गई थी। नृत्य के बीच में 'शैडो प्ले', छायाभिनय, या छायानृत्य भी प्रकाश-व्यवस्था की ही देन है। छाया-नृत्य बहुत सशक्त माध्यम है और बहुत गहरा प्रभाव छोड़ता है। उन सारी संयोजनाओं को छायानृत्य बहुत कौशल के साथ उभार सकता है जहाँ कलाकार अपनी कला, अपने पात्रों और दर्शकों के बीच में कल्पना का झीना व्यवधान डालना चाहता है। पर छायानृत्यों का विकास भी रंगमंच के विस्तार पर निर्भर करता है।

इन्हीं परिस्थितियों में चक्कर काट-काट कर और समुचित शिक्षा के अभाव में आज का नृत्यकार कुछ ऐसा हो गया है कि उसमें नई कृतियों को जन्म देने की शक्ति का ह्रास हो गया-सा दीख पड़ता है। पुरानी लकीरों को पीटने वाले अधिकांश तरुण कलाकार दीख पड़ेंगे। बदले हुए युग की चेतना से वे अब भी कोसों दूर हैं। वे अपनी उस एकांगिता को विशुद्ध आनन्दवादी दृष्टि-कोण कह कर छिपाने की चेष्टा करते हैं। देश में इधर जितनी नई धाराएँ उठी हैं और उनके जितने नये बोधस्तर दूसरी ललित कलाओं में दिखाई पड़ते हैं, अपेक्षाकृत नृत्य के क्षेत्र में बहुत ही कम हैं। इसीलिये आज के अधिकांश नृत्य-प्रदर्शन शीघ्र ही उबा देते हैं। वे ताल और नटबाजी का नज़ारा बन कर रह जाते हैं। चलचित्रों के माध्यम से भी इन तथाकथित नृत्यों के नये तथ्यों को उभारने की जो चेष्टाएँ की गई हैं वे न केवल अवांछनीय और अग्राह्य हैं बल्कि भ्रान्ति भी पैदा करती हैं। नृत्य को सर्वथा 'पूज्य' और जन-मानस से अलग रख कर ऊपर से कुछ थोपने की भावना कलाकार को बहिष्कृत ही कर देगी।

नृत्य की जो गतिविधि आज परिलक्षित हो रही है उसमें भविष्य की

अनेक संभावनाएँ निहित हैं। नृत्य के क्षेत्र में यह संक्रान्ति काल है : एक ओर तो 'नृत्य' के नाम पर, 'नये' के नाम पर, 'ओरियण्टल डांसिंग' के नाम पर ऐसी कला को प्रोत्साहन मिल रहा है जो भारतीय नृत्य की गौरवमयी परम्परा को निश्चय ही क्षीण कर देगी और उसे जन-मानस के अधिक निकट जाने के नाम पर सस्ते और बाजारू ढंग के 'नाच' में ही परिवर्तित करके दम लेगी। दर्शकों को दूसरे माध्यम से चकित करने का प्रयत्न करेगी। आधुनिक नृत्य के बारे में एक अमरीकी पत्रकार और भारतीय नृत्यों में रुचि रखने वाले महोदय ने लिखा है कि 'आज का भारतीय नर्तक, मोर के पंख खोंस कर, स्टेज सँवार सिंगार कर सिर्फ चमत्कृत करने की चेष्टा करता है। नृत्य की ओर उसका ध्यान शायद ही रहता हो।' उक्त प्रवृत्ति न देखने में मिलती हो ऐसी बात नहीं है। आये दिन शिकारी नृत्य, सँपेरा नृत्य, पतंग उड़ाने का नृत्य आदि दिखाई पड़ते हैं जो लोकप्रिय भी हो रहे हैं। म्यूज़िक कान्फ्रेंसों और सम्मेलनों में नृत्य के प्रति जनता और संयोजकों का विशेष आग्रह रहता है। किन्तु वे नृत्य कहाँ तक सही मुद्राओं का प्रदर्शन करते हैं, कहाँ तक नये भावों को सामने लाते हैं, कहाँ तक नई दृष्टि देते हैं और कहाँ तक उन मूल्यों को उन संवेदनाओं को जगाने में समर्थ सिद्ध होते हैं जो कलाकार की मूल प्रेरणा होनी चाहिये, यह एक विचारणीय प्रश्न है। उसका सही मूल्यांकन करके नृत्यकारों तक पहुँचाने का साहस भी बहुत ही कम लोगों में है। अतः यह समूह चेतेगा, इसकी सम्भावना भी कम ही दिखाई पड़ती है। दूसरी ओर नृत्य के क्षेत्र में शुष्क बौद्धिकता का आग्रह भी दिखाई पड़ रहा है। नृत्य का विशिष्ट तत्व रस है जो नृत्यकार की तालमयता, संगीतमयता, भावप्रदर्शन और आंगिक अभिनयों से उभरता है। यदि वह गौण रह जायगा तो उसकी 'अपील' सीमित हो जायगी। नृत्य के कलापक्ष पर भी आवश्यकता से अधिक बल देने वालों का एक समूह है। यदि वह पक्ष बहुत उभरा तो भी यह कला निष्प्राण, मन्द और 'बैकडेटेड' हो जायगी। इसलिए उस सन्तुलन की बहुत आवश्यकता है जो इसकी शक्ति समझ कर इसकी अपनी परम्पराओं को सँजो-कर नये तत्वों को रसमयता के आग्रह के साथ प्रस्तुत कर सके।

रसमयता और नये तत्वों को समाविष्ट करने के लिए आज की नृत्यकला को मंच से ही बाँध कर रखने से काम नहीं चलेगा। लोक नृत्यों के कोष-द्वार को खटखटाना होगा। विभिन्न मुद्राओं और भावों के ज्वार-भाटाओं से भरा-पुरा, धरती के पुत्रों का नृत्य निश्चय ही हमें कुछ ऐसे अनूठे स्पर्श करा जाता है जिसे पकड़ कर, सँवार कर, अनुरूप बना कर सुसंस्कृत रूप में रक्खा जाय तो वह हमारे मन को और तीव्रता के साथ छू सकता है। उसका अपनापा, उसका उत्साह, उसकी रसानुभूति सब कुछ नर्तक की अपनी अनुभूति के अंश हो कर जब प्रदर्शित होंगे तब उसकी जो चमक होगी वह अनायास ही आकर्षित करेंगी।

जहाँ हम एक ओर जन-जीवन के अधिक निकट आने का और उससे सीखने का आग्रह करते हैं वहीं हम अपने नर्तक कलाकारों से यह भी चाहते हैं कि वे पुराने नृत्यों और मुद्राओं की खोज करें। उन अंगस्थितियों और नृत्य योजनाओं को फिर से स्थापित करें जो इस भीड़भाड़ में खो गये हैं। दक्षिण भारत के तो कितने ही ऐसे नृत्य हैं जो अब कहीं देखने में भी नहीं आते। इनमें से एक नृत्य का वर्णन तो बहुत ही मनोरंजक बताया गया है। नृत्य-शाला में एक इंच ऊँचाई की बालू का ढेर कपड़े से ढँक कर डाल दिया जाता है। नर्तकी या नर्तक नाचते हुए इस चतुराई के साथ बालू पर पंजे से ठोकर लगाता जाता है कि दर्शकों को कुछ पता भी नहीं चलता। जब नृत्य समाप्त होता है और बालू के ढेर पर से कपड़ा हटाया जाता है तो सिंह की आकृति उसके नीचे से निकल आती है। कौशल की दृष्टि से इस नृत्य की गणना महत्वपूर्ण नृत्यों में होती है। पर अब इस प्रकार के प्रदर्शन सरलता से नहीं देखे जा सकते। इसके सिखने वाले तो और भी कठिनाई से मिलते हैं। यदि इन्हें सहेज कर रक्खा जा सके तो भारतीय नृत्य परम्परा की एक गौरवपूर्ण कड़ी तो सुरक्षित रहेगी ही, साथ ही इन नृत्यों के पद-संचालन, आन्दोलन और गतिमयता हमारे नये नृत्यों की प्रेरणा बन सकती है।

यद्यपि देश अपनी विशालता के कारण भाषा, भूषा और सांस्कृतिक चेतना के विभिन्न स्तर रखता है किन्तु उसमें मूलतः वही धारा है जो उसे भारतीयता

की संज्ञा देती है। नृत्य के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। चाहे वे उत्तर भारत की नृत्य पद्धतियाँ हों चाहे दक्षिण भारत की—उनका आधार एक ही है। फिर भी ये प्रादेशिक नृत्य एक-दूसरे को पहचानते न थे। फलतः वे न तो उसकी ताज़गी से ही परिचित थे और न उस कौशल से ही। पर इधर इस दिशा में कुछ उल्लेखनीय प्रगति हुई है—कुछ नृत्यकारों के स्वयं अपने प्रयास से और कुछ सरकारी तथा अर्ध-सरकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप। निश्चय ही इस आदान-प्रदान से भारतीय नृत्य की सच्ची तस्वीर उभरेगी। कुछेक लोगों का मत है कि नृत्य का भी एक कॉमन नोटेशन बनाना चाहिये जिसमें न केवल पद-संचालन वरन् अंग-संचालन, शिर, भ्रू, नेत्र-परिचालन, अंग स्थितियों आदि का उल्लेख स्पष्ट होना चाहिए। पर इसमें एक खतरा भी है—यदि सभी नृत्य एक ही 'पैटर्न' पर हांने लगे तो भरत-नाट्यम्, मणिपुरी, कत्थक, कथाकली आदि नृत्यों की अपनी विशेषताओं का क्रमिक लोप हो जायेगा। विभिन्नता में भी जो एकता की झाँकी हमें आज दिखाई पड़ जाती है, उसका सौंदर्य नष्ट हो जायगा। पर हाँ, यदि हर विशिष्ट नृत्य पद्धति की प्रणाली निश्चित हो जाय—नोटेशन तैयार हो जायें, तो उससे बहुत लाभ होने की संभावना है। फिर इस प्रकार का दृश्य कम ही देखने को मिलेगा जहाँ मणिपुरी वेशभूषा में भरत-नाट्यम् की मुद्राओं के साथ नृत्य हो रहा है ओर उसे कहा जा रहा है मणिपुरी नृत्य।

बातें बहुत सी कही और उठाई जा सकती हैं। पर यह मानने से इन्कार नहीं हो सकता है कि ये सारी सम्भावनाएँ तभी सिद्ध की जा सकती हैं जब इनका आर्थिक पहलू भी मज़बूत हो। आर्थिक पहलू मज़बूत करने के लिए न तो जनता में इतनी रुचि है और न धन कि वह अपने देश के नर्तक कलाकारों को सम्मानित जीवन व्यतीत करने की सुविधाएँ उपलब्ध कर सके। इसीलिए यदि उदयशंकर जैसे नृत्यकार अपने केन्द्र को तोड़ कर सबसे विमुख हो जायँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हाँ सरकार कुछ कर सकती है। पर वह कहाँ तक करे यह भी एक विचारणीय बात है। पूर्णतया सरकारी अनुदानों पर ही आश्रित हो यदि यह कला बढ़ी, पनपी तो इसका यह रूप भी सम्भव

हो सकता है कि नृत्य की सारी शक्ति वृहत्तर मानव-कल्याण की भावना को छोड़ कर सरकारी योजनाओं तथा अन्य प्रशस्ति कथाओं में ही लग जाय और नृत्य का रूप कुछ-कुछ उसी तरह ढल जाय जैसा कि रूस, चीन, अमरीका आदि देशों में हो गया है। इससे बचाने के लिए अपने पाँव स्वयं मज़बूत करने चाहिये ताकि आत्मनिर्भरता की भावना आ सके।

अनेक कारणों से कलाकार का आत्मविश्वास, उसकी आत्मनिर्भरता खो गई है। वह नये जोखिम उठाने के लिए तैयार नहीं है। नई रचनाओं को संयोजित करने के लिए कमर नहीं कसता। प्रसिद्धि के 'शार्टकट' ढूँढ़ता है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि वह स्वयं ही नहीं जानता कि अपनी कला वह किसके लिए प्रदर्शित कर रहा है। क्या उसका उद्देश्य अपने प्रदर्शनों से मात्र धन-संग्रह ही करना है या उसे कुछ अपनी बात कहनी है? क्या उसके पास कुछ ऐसा कथ्य है जो दूसरे माध्यम से जन-मानस तक नहीं पहुँच सकता? क्या दूसरे उपाय से उसके मन की सही अभिव्यक्ति नहीं हो सकती? शायद उसके मन में वह बेचैनी अभी नहीं जगी है। यह सब किसके लिए है उसे ज्ञात नहीं। बिना इसे समझे हुए वह जो कुछ भी करता है वह निरर्थक है, निष्प्रयोजन है और इसी कारण निष्प्राण भी है। नर्तकी इसोडोरा डंकन के सामने भी कुछ इसी तरह का प्रश्न था। पर उसने उसका उत्तर सहज ही खोज निकाला था

"Until Finally, I shouted at him that I had come to Europe to bring about a great renaissance of religion ('Faith') through the Dance, to bring the knowledge of the beauty and holiness of human body through its expression of movements and not to dance for the amusement of overfed bourgeoisie after dinner."

["अंत में मैं चीख पड़ी कि मैं नृत्य के द्वारा (खोई हुई) मानवता की आस्था और धर्म को वापस लाने के लिए यूरोप आई हूँ, ताकि मानव शरीर

की सुन्दरता और पवित्रता को उसके परिचालनों से अभिव्यक्त कर सकूँ; न कि इसलिए कि अघाये हुए 'बुर्जुवा' लोगों के भोजनोत्सवों में अपना 'नाच' दिखाऊँ।"]

आज हमारे नृत्यकारों को इसी दिशा में सोचना है। ● ● ●

नृत्य की भाषा

●

नृत्यकार जिस माध्यम से अपने भाव जगत को प्रेषणीय बनाता है—वह है मुद्रा। मुद्राओं को भारतीय संस्कृति में पवित्रता का प्रतीक माना गया है क्योंकि मनुष्य मुद्राओं के ही माध्यम से देवताओं तक अपना कथ्य पहुँचा सकता है, ऐसा विश्वास किया जाता रहा है। इसी कारण मंत्र और मुद्राओं का संयोग भारतीय आध्यात्मिकता के क्षेत्र में यत्र-तत्र देखा जा सकता है। धर्म से मूलतः सम्बन्धित-कला होने के नाते नृत्यकला मुद्राओं के ही माध्यम से विकसित हुई। वही उसकी भाषा बन गई।

संयुक्त हस्त मुद्राएँ

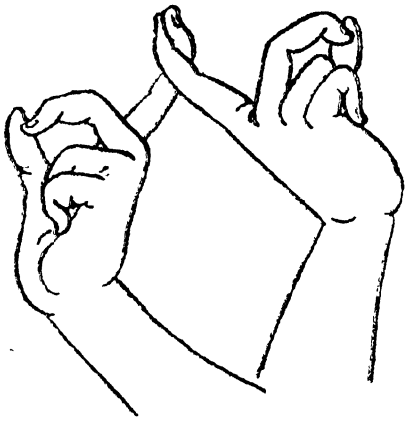

पाश

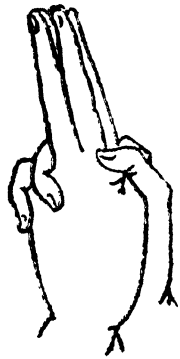

हंस

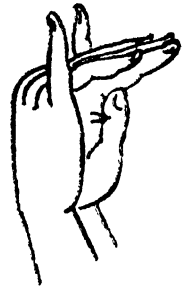

वाराह

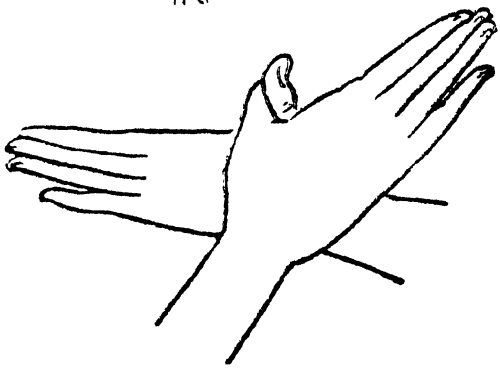

गरुड़

स्वास्तिक

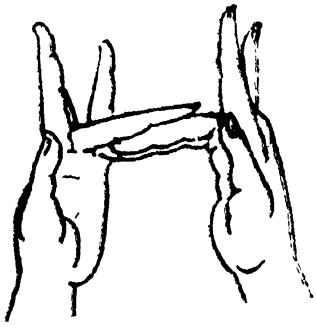

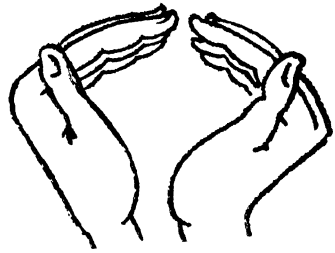

संयुक्त हस्त मुद्राएँ

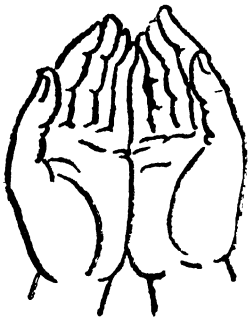

कपोत

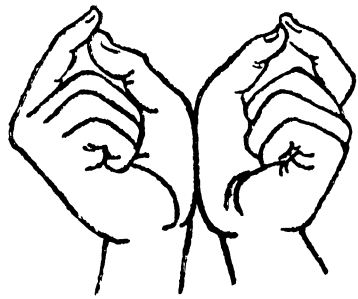

भेरुंड

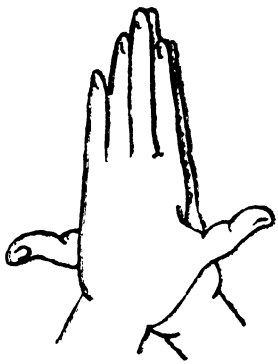

मत्स्य

कूर्म

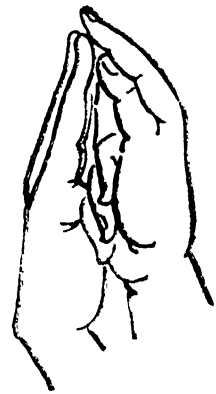

शंख

सम्पुट

चक्र

असंयुक्त हस्त मुद्राएँ

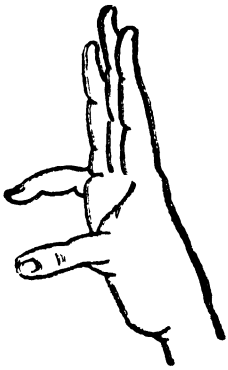

व्याघ्र

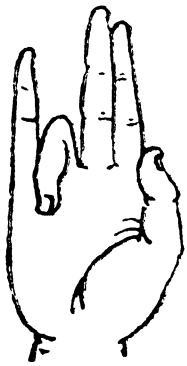

त्रिपताका

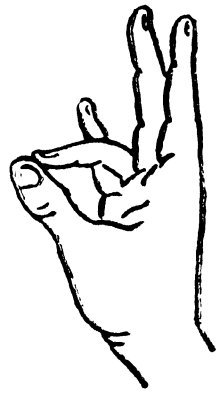

मयूर

त्रिशूल

कर्कट मुख

सिंह मुख

मुकुल

सर्पशीर्ष

असंयुक्त हस्त मुद्राएँ

भ्रमर

सूचीमुख
(नाट्य शास्त्र)

सूचीमुख
(अभिनय दर्पण)

पल्लव

पद्मकोष

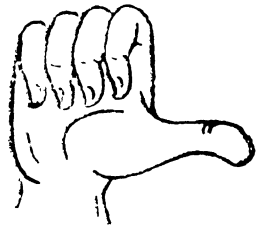

शिखर

ताम्रचूड़
(अभिनय दर्पण)

ताम्रचूड़
(नाट्य शास्त्र)

अंग-स्थितियाँ

मुद्राएँ क्या केवल हाथ की मुद्राएँ हैं या सम्पूर्ण अंग संचालन एवं अंगस्थितियाँ भी मुद्राओं के अन्तर्गत आती है ? यह एक विवादस्पद विषय रहा है। आंगिक अभिनयों के क्षेत्र में जो कुछ भी किया जाता है उसे विशिष्ट मुद्राओं के रूप में ही समझने में सरलता होगी। शरीर को नृत्य शास्त्र ने भी तीन विशिष्ट भागों में विभाजित किया है—(१)अंग—जैसे हाथ, पैर, सिर, सीना, धड़ आदि। (२) प्रत्यंग—जैसे गला, कंधा, पीठ, पेट, कोहनी, जाँघ, घुटने आदि। (३) उपांग—जैसे जिह्वा, होंठ, मुख, दाँत, नासिका, आँखें, गाल आदि। यह आंगिक अभिनय सम्पूर्ण नृत्य-मुद्राओं को आत्मसात करता हुआ चलता है। रेचक दृष्टि, शेष शरीर एवं पद संचालन सब कुछ इसी के अन्तर्गत आता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार सिर के १३ आन्दोलन शास्त्रोक्त बताये गए हैं। सम, अकंपित, कंपित, परावृत्त, अधोगत, उत्क्षिप्त तथा आलोलित आदि है। नेत्र-संचालन को तीन मुख्य भागों में विभाजित किया गया है—रसों की भावाभिव्यक्ति के लिए, स्थायी भावों की अभिव्यक्ति के लिए तथा संचारी भावों की अभिव्यक्ति के लिए। इसी प्रकार ग्रीवा आन्दोलन एवं पद-प्रक्षेप के भी अनेक ढंग बताये गये हैं जिन्हें विभिन्न रूपों में प्रयुक्त किया जाता रहा है। इन सभी मुद्राओं के उल्लेख, नामकरण एवं विभाजन में नाट्य शास्त्र एवं अभिनय-दर्पण में कुछ न कुछ अन्तर है किन्तु अधिकतर नृत्य के मूल सिद्धांतों के प्रति दोनों का ही आग्रह लगभग समानान्तर है।

नृत्य की भाषा में यद्यपि वे सभी मुद्राएँ समान रूप से क्रियान्वित होकर ही एकरूपता को जन्म देती हैं किन्तु इनमें हस्त मुद्राएँ विशिष्ट है, क्योंकि उनके विभिन्न प्रयोगों द्वारा विभिन्न भावबोधों को प्रस्तुत करने और उनके अर्थ-परिवर्तन में बड़ी सहायता मिलती है। इसी हेतु नृत्य-जगत में हस्त-मुद्राएँ अपना विशेष स्थान रखती हैं। नाट्य-शास्त्र एक हाथ की अथवा असंयुक्त हस्त की चौबीस मुद्राओं का, तेरह संयुक्त मुद्राओं का और सत्ताइस पूरक मुद्राओं का उल्लेख करता है। अभिनय-दर्पण असंयुक्त मुद्राएँ अट्ठाइस और चार पूरक मुद्राएँ बताता है। भारतीय नृत्य-शैली में हाथ की मुद्राओं के

विभिन्न मिलापों को स्वीकार किया गया है। कथाकली नृत्य शैली में इस प्रकार की अनेक मुद्राएँ देखने को मिल सकती हैं जो शास्त्रीय न होते हुएभी सम्पूर्ण अर्थ वहन करने में सक्षम हैं।

असंयुक्त मुद्राओं की संख्या भी इसी प्रकार बढ़ती ही रही है, इस असंयुक्त हस्त मुद्राओं में कुछ ऐसी मुद्राएँ हैं जिनमें हाथ की उँगलियाँ ही प्रमुख रूप से प्रदर्शित होती हैं और भावबोध को उन्हीं के माध्यम से उभारा जाता है—उदाहरण के लिए पताका-हस्त, त्रिपता का-हस्त, अर्धपताका-हस्त, कर्तरीमुख-हस्त, मयूर-हस्त, अर्धचन्द्र हस्त, अराल-हस्त, एवं शुकतुण्ड आदि।

पताका-हस्त—मेघ, जंगल, स्वर्ग, लहर, चाँदनी रात, शक्ति, किसी वस्तु को मना करने का आदेश आदि कई संकेतों के लिए प्रयुक्त होता है। कथा कली में इसके द्वारा सूर्य, राजा, हाथी आदि की भी अभिव्यक्ति करते हैं।

त्रिपताका—इसी प्रकार मुकुट, वृक्ष, बज्र, इन्द्र, प्रकाश, दीपक, शर, स्त्री-पुरुष का संयोग आदि प्रदर्शित करने के लिए प्रयुक्त होता है। कथाकली में इस हस्त-मुद्रा को सूर्यास्त, मदिरापान, एवं भिक्षाटन आदि के संकेत के लिए प्रस्तुत करते हैं।

अर्धपताका—नदी-तट, कटार, छूरा, ध्वजा, सींग आदि के लिए नृत्य में प्रयुक्त की जाती है।

कर्तरीमुख-हस्त—वियोग, मृत्यु, असहमति, विद्युत्, बेल, मृग, मक्खी, पहाड़ी आदि के लिए प्रयुक्त होती हैं। कथाकली में इसके द्वारा पाप, घड़ा, घर समाप्ति, मुख, मनुष्य, नेवला आदि अनेक वस्तुओं का प्रदर्शन करते हैं।

मयूर-हस्त—यह भी मयूर की चोंच के लिए, आँसू पोंछने के लिए, बाल सँभालने के लिए तथा न्याय-सम्मत तर्क उपस्थित करने के लिए प्रयोग में लाई जाती है।

अर्धचन्द्र—इसकी हस्त मुद्रा हाथ से अष्टमी का चन्द्र बनाकर प्रस्तुत की जाती है, इसके द्वारा गला पकड़ने, भाला, विस्मय, दर्पण, गजकर्ण, योग्यता, भौं तथा अन्य इसी प्रकार कई वस्तुओं एवं भावबोध के संकेत दिये जाते रहे

हैं। कथाकली में इसके द्वारा असहाय स्थिति का, परमात्मा का, मुस्कान आदि का बोध कराया जाता रहा है।

अराल हस्त—विष या अमृतपान के लिए, बाल गूँथने के लिए, शीघ्र ही बुलाने के लिए एवं अन्य इसी ढंग की क्रियाओं के लिए प्रयुक्त होती रही है। कथाकली में इसके द्वारा वृक्ष, कली तथा मंदबुद्धि का संकेत किया गया है।

शुकतुण्ड—इस मुद्रा के द्वारा शरसंधान, अपने घर की मधुर-स्मृति, ब्रह्मास्त्र आदि का संकेत किया गया है। कथाकली में इससे पक्षी या हाथ का बोध कराया गया है।

वस्तुतः इन्हीं मुद्राओं को विभिन्न परनों एवं रेचकों के साथ विभिन्न ढंग से सम्मिलित करने से उनके विभिन्न अर्थ निकलते हैं।

असंयुक्त हस्त मुद्राओं की दूसरी कोटि वह है जिनमें मुष्टिका प्रधान रहती है। मुष्टिका को विभिन्न रूपों में प्रदर्शित करने से उनका अर्थान्तर होता रहता है यथा मुष्टि-हस्त, शिखर-हस्त, कटक-हस्त, कपित्थ-हस्त, चन्द्रकला-हस्त, सूची-हस्त, ताम्रचूड-हस्त, कटकमुख-हस्त आदि। कुछ प्रमुख के अर्थ-बोध इस प्रकार हैं :—

शिखर-हस्त—मदन कामदेव का बोध कराता है, धनुष, स्तम्भ, दंत, आलिंग आदि भी इसके संकेत से समझी जाती हैं। कथाकली में इसके द्वारा कण, मदिरापान विस्मय एवं रथचक्रों का बोध होता है।

कपित्थ हस्त—इसके द्वारा लक्ष्मी एवं सरस्वती का बोध कराते हैं, दुग्ध, नृपति एवं गाय को भी इसमें संकेत से उठाते हैं। कथाकली में इसके द्वारा शंका, नीचे उतरना एवं मोरपंख का बोध होता है।

सूचीमुख-हस्त—इसके द्वारा पारब्रह्म का बोध होता है। शत, सूर्य, नगर धमकाना, दर्पपूर्ण उक्ति आदि के लिए भी इसे प्रयोग करते हैं।

कटकमुख-हस्त—यह फूल चुनने के लिए विशिष्ट रूप से प्रयुक्त होता है। कथाकली में इसे भृत्य या धनुष चलाने के लिए प्रयुक्त करते हैं।

चन्द्रकला-हस्त—सुन्दरी के सुन्दर मुख का बोध कराता है। शिव की

जटा-जूट इसी के द्वारा बताने की चेष्टा की जाती है। गंगा का बोध भी इसी के द्वारा होता है।

ताम्रचूड-हस्त—इसका प्रयोन मुर्गा, बछड़ा, तीनों लोक के वर्णन के लिए करते हैं।

तीसरा वर्ग वह है जिसमें हाथ से पद्मकोष बनाकर उसके माध्यम से दूसरी मुद्राएँ बनाई जाती हैं इनमें पद्मकोष हस्त, मुकुल हस्त, अर्ध सूची हस्त, मुखर हस्त, चतुर हस्त, सर्मशीर्ष हस्त, सिंहमुख हस्त, वाणहस्त, पल्लि हस्त, हंस हस्त, लांगल हस्त, उर्णनामि हस्त, त्रिशूल हस्त, व्याघ्र हस्त, आदि आते हैं। कुछ प्रमुख के अर्थ बोध इस प्रकार हैं।

पद्म कोष—फूल, लकड़ी, उरोज, कली और अनेक वस्तुओं के लिए आता है।

सर्पशीर्ष—सर्प के फन का बोध कराता है एवं देवताओं तथा ऋषियों को जल चढ़ाने के लिए प्रयुक्त होता है। इसके और भी अनेक भावबोध हैं।

मृगशीर्ष—सभी प्रकार स्त्री, कपोल तथा परम्परागत संस्कारों आदि का बोध कराने के लिए प्रयुक्त होता है।

पल्लि हस्त—गाँव का बोध कराता है।

सिंहमुख हस्त—जल-विंदु, सुगन्धित वस्तु, मोती तथा मोक्ष आदि का बोध कराने के लिए प्रयुक्त होता है।

लांगल हस्त—किसी मुग्धा के उरोज, नील कमल एवं छोटी-छोटी वस्तुओं के प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त करते हैं।

व्याघ्र हस्त—इससे व्याघ्र, मेढक और बन्दर आदि दिखाये जा सकते हैं।

मुकुल हस्त—यह कली खिलने की प्रक्रिया का बोध कराता है। इसके अतिरिक्त कोई वस्तु खाने तथा कामदेव का भी बोध इससे होता है।

असंयुक्त हस्त के अनेक अर्थ-बोध क्रमशः विकसित होते रहे हैं। उनके सम्पूर्ण स्वरूप को पहिचानने के लिए नृत्य-प्रदर्शनों को इस दृष्टि से देखना ही एकमात्र उपाय है। असंयुक्त हस्त की ही भाँति संयुक्त हस्त मुद्राएँ भी नृत्य में बड़ी महत्वपूर्ण हैं। अभिनय-दर्पण ने तेईस संयुक्त हस्त-मुद्राएँ बताई

हैं—(१) अंजलि, (२) स्वस्तिक, (३) कपोत, (४) डोला, (५) कर्कट, (६) पुष्पपुष्ट, (७) उत्संग, (८) शिवलिंग, (९) कर्तरी स्वस्तिक, (१०) शंख (११) शकट, (१२) सम्पुट, (१३) चक्र, (१४) पाश, (१५) मत्स्य, (१६) कीलक, (१७) कूर्म, (१८) गरुड़, (१९) बाराह, (२०) भेरूंड, (२१) नागबंध, (२२) खट्वा, (२३) कटकावर्धन।

इन मुद्राओं का उपयोग इनके अर्थों के अनुरूप ही अधिकतर किया जाता है। विभिन्न रूपों में उनका प्रयोग करने से उनका अर्थ-वैचित्र्य भी होता है। जैसे अंजलि दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार करने की मुद्रा है। जब दोनों हाथ मस्तक को छूते हैं तो उसे देवताओं को प्रणाम के लिए प्रयुक्त करते हैं। जब दोनों हाथ केवल नाक के पास तक जाते हैं तब उससे गुरु के प्रणाम का बोध होता है किन्तु जब ये हाथ केवल सीने से लगकर ही नमस्कार करने की मुद्रा में रह जाते हैं तो इनके द्वारा ब्राह्मण, विद्वान् या किसी पंडित व्यक्ति को आदर देने की भावना व्यक्त की जाती है।

संयुक्त हस्त मुद्राओं में अधिकतर दोनों भिन्न हाथों को विभिन्न मुद्राएँ नये अर्थ का बोध कराती हैं। इन्हीं के मिश्रण से नये अर्थ भी प्रस्तुत होते हैं। उदाहरण के लिए यदि बायें हाथ से शिखर और दाहिने हाथ से मृगशीर्ष बना कर साथ-साथ प्रस्तुत किया जाय तो वह दम्पति का बोध कराता है। इसी प्रकार देवताओं का बोध भी संयुक्त मुद्राओं द्वारा कराया जा सकता है। यदि बायें हाथ से चतुर-हस्त और दाहिने हाथ से हंस-हस्त बनाया जाय तो उस सम्मिलित मुद्रा से ब्रह्म का बोध होगा। बायें हाथ से मृगशीर्ष और दाहिने हाथ से त्रिपता बनाने पर देवाधिदेव महादेव का बोध होगा। विशिष्ट ढंग से दोनों हाथ से अर्ध चन्द्र की मुद्राएँ बना कर पार्वती का बोध कराया जा सकता है। इसी प्रकार विभिन्न अवतारों के लिए भी ये संयुक्त हस्त मुद्राएँ होती हैं। पौराणिक कथाओं के महापुरुषों को भी नृत्य-शास्त्र में विभिन्न मुद्राओं द्वारा प्रदर्शित करने की चेष्टा की गई है, जैसे हरिश्चन्द्र, नल, सागर, अर्जुन, भीम, नहुष, भगीरथ आदि। विभिन्न वर्ण-व्यवस्था को प्रदर्शित करने के लिए भी संयुक्त मुद्राओं का प्रयोग किया गया है, इसी प्रकार सप्त-समुद्र,

नदियाँ, विभिन्न जानवर, वृक्ष, चिड़ियों आदि को भी नृत्यशास्त्र की इन मुद्राओं में स्थान प्राप्त है।

नृत्य-शास्त्र की यह भाषा अपने में उतनी ही सम्पूर्ण एवं चित्रात्मक है जितनी अन्य किसी भी कला की भाषा हो सकती है। इस भाषा को बिना सीखे हुए यदि नृत्य का पूर्ण रस-बोध कोई व्यक्ति करना चाहे तो उसका प्रयास ठीक वैसा ही होगा जैसा अक्षर-ज्ञान के बिना पुस्तकें पलटना।

नृत्य-संगीत : साहचर्य और वैषम्य

नृत्य तथा संगीत के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध इतना सहज है कि उसके लिए किसी दलील की आवश्यकता नहीं रह जाती । 'संगीत' शब्द में ही परिभाषा के अनुसार नृत्य सम्मिलित माना गया है । नृत्य-जन्य भावोन्मेषों को संगीत का साहचर्य दो ढंग से मुख्यतः प्राप्त होता है—प्रथमतः अनेक परम्परायुक्त नृत्यों की पृष्ठभूमि में गेयगीतों के माध्यम से और दूसरे नये भावबोध को मूर्त करने वाले कलाकारों के नृत्यों में वाद्य-वादनों द्वारा ।

भारतीय नृत्य की शास्त्रीय व्याख्याओं में इस बात का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है कि प्राचीन नृत्य योजनाओं में वेणु, मृदंग, वीणा, डमरू आदि वाद्यों

का प्रयोग नृत्य की सम्पूर्ण रसानुभूति कराने के लिए होता रहा है। अभिनय-दर्पण में कहा गया है कि नृत्यकार के दोनों ओर मंजीर और मृदंग-वादकों को तथा गायक को पीछे तानपूरा लेकर बैठना चाहिए। किन्तु यह वाद्य-वादन किसी पूर्व निबद्ध संगीत की विशेष भावभूमि तैयार करते हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इसके विपरीत भारतीय नृत्यों की प्रमुख शैलियों में बहुधा नृत्य के सहचर गेय पद ही रहे हैं—चाहे वे भरत-नाट्यम् के 'पद्य' हों, मणिपुरी की रासलीला के 'गीत-गोविंदम' हों, कथाकली के भक्तियुक्त पौराणिक प्रसंग हों या कत्थक नृत्य की ठुमरियाँ ही हों। इन सभी नृत्य-शैलियों में गायन की प्रधानता क्रमशः बढ़ती ही रही क्योंकि उसके माध्यम से नृत्य की जटिल एवं दुरुह मुद्राओं का अर्थ जन-मानस में बोधगम्य होता गया। किन्तु सरलीकरण की इस प्रक्रिया ने नृत्य की लाक्षणिकता एवं ध्वनि-बोध को प्रायः समाप्त कर दिया।

नृत्य-कला की मुद्राओं द्वारा जिस विराट गतिमयता का बोध कराया जा सकता है, उसमें संगीत का अत्यन्त महत्वपूर्ण योग है। किन्तु संगीतकारों ने नृत्य की कला में अपना योग लगभग नहीं के बराबर ही दिया। उनकी अपनी कला-साधना नृत्य को बहिष्कृत करके चलती रही। इतना ही नहीं, संगीतज्ञों ने प्रायः नर्तकों की कला को नीची दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया था और संगीत से उसका सीधा सम्बन्ध भी मानने के लिए तैयार नहीं थे। नृत्यकारों के लिए यह बड़ी कठिन समस्या थी। संगीत को बिना साथ लिये चलना उनके लिए प्रकारान्तर से दुस्तर था। नृत्य की कला को इस प्रकार पराश्रित होने से बचाने के लिए कुछ यूरोपीय नर्तकों ने संगीत को नृत्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त कला तक बताने की चेष्टा की है। किन्तु उनके इस सिद्धान्त को ग्रहण नहीं किया जा सका। वस्तुतः संगीत नृत्यकार का वह मार्ग तैयार करता है जिस पर उसके भावप्रवाह सरलता से दौड़ते हैं। इसी हेतु अन्ततः संगीतकार की सहायता नृत्यकार के लिए एक अकाट्य संगति बन गई। इस क्षेत्र में नृत्यकार के सामने कई कठिनाइयाँ आईं। संगीतज्ञों का आग्रह था कि यदि वे किसी नृत्य में संगीत की पृष्ठभूमि देंगे तो वे प्रदर्शन के समय के अनुकूल

राग पर आधारित संगीत ही प्रस्तुत करेंगे। केवल यही नहीं, इनका कहना प्रायः यह होता था कि वे अपनी 'गत' बजा कर सुना देते हैं अब नर्तक जैसे चाहे वैसे अपना नृत्य उसी के आधार पर 'फ़िट' कर ले। इसका परिणाम यह था कि ऐसी दशा में नर्तक उसी 'गत' के आधार पर अपनी सम्पूर्ण गतिमयता को बाँध लेता था। उसकी कला में अपना उत्स समाप्त हो जाता था और उसे मात्र उस गत के आरोहों-अवरोहों के अनुरूप अपने को प्रस्तुत करना होता था। तीसरी कठिनाई थी भारतीय संगीत में प्रचलित वाद्यों की। जिस ढंग के वाद्य प्रचलित थे उनमें 'टोनल क्वालिटी' के वाद्य बहुत ही कम थे। सम्पूर्ण वाद्यों को एक साथ रखने से भी उनसे वांछित ध्वनि प्रभाव प्रस्तुत करना असंभव ही था।

देश के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में 'वृन्दवादन' या आरकेस्ट्रा की विधा पश्चिम की नई देन है। वाद्यों की सामूहिक ध्वनियों से एक विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने की प्रक्रिया विदेशों में अनेक ढंग से उठाई गई है। सभी वाद्यों को एक जैसी ही गतिमयता के स्वरों में बाँध कर और सभी एक साथ बजने वाले वाद्यों को एक साथ ही विभिन्न स्वरों या लयों में बाँध कर नये ढंग के ध्वनि प्रभाव उत्पन्न करने के जो प्रयोग विदेशों में किये जा रहे थे वे क्रमशः इस देश में भी आये। वृन्दवादनों को प्रोत्साहित करने में कुछ समय पूर्व की व्यापारी नाटक कम्पनियों का बड़ा हाथ रहा है। उन्होंने कुछ ऐसे वाद्यों का प्रयोग प्रचलित कर दिया जो कि पहिले भारतीय संगीत में मान्य नहीं थे—जैसे ट्रम्पेट क्लेरियोनेट या वायोलिन आदि। हारमोनियम भी इन्हीं कम्पनियों के द्वारा ही अधिक प्रचलित हुआ। आधुनिक नृत्य के संयोजकों ने देखा कि वे इन वाद्यों से ऐसे कई भावों को संगीत के माध्यम से प्रस्तुत कर सकते हैं जो अब तक नृत्य के लिए सम्भव नहीं थे। इन वाद्यों के सहारे वृन्द वाद्यों की स्थापना में भारत के रजवाड़ों के नाम भी उल्लेखनीय हैं जिन्होंने इस दिशा में यथेष्ट प्रोत्साहन दिया था।

आधुनिक नृत्यकार संगीत की इस प्रभविष्णुता को न केवल सम्पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं वरन् वे संगीत को अपने नृत्यों की भावपीठिका तैयार

करने वाला एक अत्यन्त सशक्त माध्यम मानते हैं। इसीलिए आधुनिक नृत्यों में आरकेस्ट्रा का बहुत महत्वपूर्ण योग रहता है। उदयशंकर, साधना बोस, रामगोपाल, रागिनी तथा अन्य मान्य कलाकारों ने किस प्रकार वृन्दवादन का सदुपयोग अपने नृत्यों में किया है वह सहज ही देखा जा सकता है। इसका सम्पूर्ण परिपाक करने में ये वाद्य ध्वनियाँ बड़ी सहायक सिद्ध हुई हैं। कितने ही नृत्य-संयोजनों की टेकनीक इस ढंग की होती है जो आरकेस्ट्रा के ही माध्यम से आगे बढ़ती है। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि जैसे आरकेस्ट्रा ही प्रमुख हो उठा है और नर्तक मात्र उन वाद्य ध्वनियों को अपने अंग-संचालकों से मूर्त रूप देने का प्रयत्न कर रहा है। संगीत का इस प्रकार सहयोग पाने से नर्तक के लिए अनेक दुर्गम भावबोध भी सरल हो गये और वह इन्हें सहज ही प्रेषणीय बना सका।

किन्तु इस ढंग के आरकेस्ट्रा या पार्श्व संगीत निर्मित करने का सारा श्रेय उन संगीत निर्देशकों की प्रतिभा को होता है जो नृत्य के लिए विशेष रूप से संगीत रचना करते हैं। नर्तक की नृत्य रचना देखकर उसी के अनुकूल संगीत तैयार करना न केवल विशिष्ट कौशल की माँग करता है वरन् एक कल्पनाशील प्रतिभा की भी अपेक्षा करता है। यह कौशल इस ढंग का होता है कि नर्तक की रचनात्मक प्रतिभा पर आघात नहीं पहुँचाता और न उसे वृन्दवादन से दबाने की चेष्टा करता हुआ प्रतीत होता है। वृन्दवादन के द्वारा किस प्रकार वह विशिष्ट नृत्य-रचना अपने समस्त भावों को सम्पूर्ण ढंग से प्रदर्शित कर सके संगीत-निर्देशक का यही मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। भारतीय नृत्य-जगत् में कई निर्देशक ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इनमें से अधिकांश उदयशंकर के साथ अपनी संगीत रचना दे चुके हैं। उदाहरण के लिए तिमिर बरन, शिराली, उस्ताद अलाउद्दीन खाँ आदि। रविशंकर और अली अकबर खाँ भी आरकेस्ट्रा के लिए विख्यात हैं। उदयशंकर ने अपने नृत्यों में भारतीय वाद्यों का ही उपयोग करने का जो प्रयोग किया उसमें उस्ताद अलाउद्दीन खाँ जैसे व्यक्तियों की सृजनात्मक प्रतिभा ने बड़ा योग दिया। विशुद्ध भारतीय वाद्यों से यहाँ तक कि लोक-वाद्यों के माध्यम से भी उन्होंने जैसे वातावरण की सृष्टि की वह आज तक वृन्द-

वादनों की प्रगति में एक मील का पत्थर है। इस सम्बन्ध में उस्ताद अला-उद्दीन खाँ का 'मैहर बैंड भी उल्लेखनीय है जिसमें लोक-वाद्यों के माध्यम से उन्होंने भारतीय संगीत की आत्मा को मुखरित करने का महत् प्रयास किया है। खेद का विषय यह है कि अनेक संगीत निर्देशक जो इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर सकते थे बहुत शीघ्र ही इस कार्य से पृथक् हो गये। इसका कारण प्रमुख रूप से कलाकारों की अपनी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की अदम्य आकांक्षा रही है। नृत्य के साथ संगीत रचना देने वाला कलाकार यह सोचता है कि वह अपनी कला को स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्ति नहीं दे पा रहा है वरन् वह नर्तक की ही सृजन प्रतिभा को मूर्त कर रहा है। दूसरे वृन्दवादन में रहने के कारण संगीतज्ञ को बन्धन स्वीकार करने पड़ते हैं—उसे नियमपूर्वक एक विशिष्ट संगीत रचना को सब के साथ मिल कर वाद्यों में उतारना पड़ता है। इसके लिए नियमतः पूर्व अभ्यासों की आवश्यकता पड़ती है। यह सब कुछ संगीत-कार के लिए कष्टकर सिद्ध होता है। इसी हेतु वह सदा 'सोलो परफार्मेन्स' की ओर भागता है। किन्तु वस्तु स्थिति को ध्यान से देखने से ज्ञात होगा कि यह दृष्टिकोण एक संकुचित मनोवृति का ही परिचायक है। नृत्य में जितना श्रेय नर्तक को मिलता है उससे कम श्रेय संगीत रचनाकार को नहीं है। आधुनिक नृत्य का प्रदर्शन एक सामूहिक सहयोग (टीम वर्किंग) है। इस कारण उसकी पूर्ण सफलता दोनों के पूरक सहयोग पर ही निर्भर करती है।

मंच पर नृत्य प्रदर्शन के समय यह वृन्दवादन कहाँ पर बैठाया जाय ? यह विषय भी नृत्य-जगत् में एक विवादपूर्ण स्थान रखता रहा है। बहुत कुछ तो यह समस्या इस बात पर भी निर्भर करती है कि उक्त आरकेस्ट्रा में कितने व्यक्ति हैं। कम व्यक्तियों का आरकेस्ट्रा मंच पर भी सुविधापूर्वक बिठाया जा सकता है। उदयशंकर ने तो अपने नृत्यों की पीठिका में वाद्य-वादकों को पूर्ण मेकअप के साथ सदा उतारने की चेष्टा की है। जैसा दृश्य वे अपने नृत्य में रखना चाहते हैं उसी के अनुरूप आरकेस्ट्रा के संगीतकारों का भी मेकअप करवाया जाता है और वे भी मंच पर पीछे की ओर वर्तुलाकार बैठकर वाद्य बजाते हैं। कई नर्तक आरकेस्ट्रा को पर्दे के पीछे बिठा कर चलाते हैं, किन्तु उनसे संगीत

निर्देशक को अपना कार्य करने में बड़ी बाधा पड़ती है। नर्तक की विभिन्न मुद्राओं और भाव-भंगिमाओं को बराबर देख न पाने के कारण प्रायः संगीत रचना एवं नृत्य-प्रक्रिया में सामंजस्य रखना कठिन हो जाता है और उससे रसबोध में विघ्न होता है। सुविधापूर्ण ढंग यही है कि आरकेस्ट्रा को मंच के आगे स्थान बना कर बैठाया जाय ताकि संगीत निर्देशक नृत्य रचना के साथ-साथ अपना वृन्दवादन चलाता चल सके।

वस्तुतः इस समय नृत्यकार के लिए मनचाहे आरकेस्ट्रा को संयोजित कर सकना अत्यन्त कठिन है। इतने वादकों को एकत्र करना, संगीत निर्देशकों को ढूँढ़ना और उन्हें उनकी प्रतिभा के अनुरूप मासिक वेतन दे पाना हर नर्तक के लिए असाध्य है। संगीत-निर्देशकों की जितनी माँग है, उन्हें पूरा कर पाना भी हर भारतीय नर्तक के लिए सरल नहीं है क्योंकि उसके अपने स्वयं ही अत्यन्त सीमित साधन हैं। इसके अतिरिक्त इस वृन्दवादन-समूह को साथ लेकर देश एवं विदेश की लम्बी यात्राएँ करना तो और भी कठिन है। मशीन ने इस सम्बन्ध में कुछ सीमा तक सहायता की है। टेप रिकार्ड पर इन धुनों को बाँध कर अपने साथ रखना और समय पर नृत्य-प्रदर्शन के लिए उनका उपयोग करना, कई नृत्यकारों ने अब प्रारम्भ कर दिया है। यद्यपि इस प्रक्रिया में आरकेस्ट्रा की जीवन्त अभिव्यक्ति किसी सीमा तक नहीं हो पाती है किन्तु फिर भी यह नृत्य संयोजकों के लिए सरलतम विधान है, इसमें सन्देह नहीं। ● ● ●

नृत्य की मंच और प्रकाश व्यवस्था

●

नृत्य या नाट्य प्रदर्शन में मंच एवं प्रकाश की व्यवस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण योग देती है। मंच की व्यवस्था ठीक होने पर ही नृत्य की सफलता निर्भर करती है। मंच और दर्शक स्थान अथवा प्रेक्षागृह का क्या सम्बन्ध हो, किस प्रकार की दूरी और निकटता रक्खी जाय, कितनी ऊँचाई पर कलाकार उपस्थित हों कि दर्शक समूह उसे मात्र देख भर ही न सके वरन् उसके हर विशिष्ट अंग संचालनों को भी भली भाँति समझ कर उससे रस ग्रहण कर सके। मंच को किस ढंग से आकर्षक बनाया जा सकता है और नृत्य प्रदर्शन को विभिन्न प्रकाश रंगों से भर कर किस प्रकार नई भावाभिव्यक्तियों को उनमें पिरोया

जा सकता है, यह सब प्रश्न किसी नृत्य प्रदर्शन के लिए आज नितान्त आवश्यक बन गये हैं। आज के दर्शक का रस बोध इतने विभिन्न स्रोतों से उद्भूत होता है कि उनका केन्द्रीकरण कर पाना, एक समस्या बन गया है।

मंच की ठीक और सफल व्यवस्था न हो पाने के कारण कई नर्तकों ने अपने प्रदर्शन 'मुक्त-रंगमंच' (Open Air Theatre) के माध्यम से प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया है और इस प्रयोग का कई क्षेत्रों में स्वागत भी किया गया है। किन्तु वस्तुतः यह मुक्त रंगमंच उस भावबोध और वातावरण को समुपस्थित करने में अत्यन्त दुःसाध्य होता है, जो नर्तक-कलाकार का मूल उद्देश्य रहता है। मुक्त-रंगमंच के लिए कलाकार की जैसी कुशलता एवं प्रवीणता की अपेक्षा रहती है, उसका तनिक भी अभाव होने पर वह प्रदर्शन घटिया बन जाता है। मंच की सारी व्यवस्था एवं अन्य उपकरण नृत्य के रसबोध को अधिक आग्रहपूर्ण बनाते हैं। इसी कारण मंच की उपयोगिता निर्विवाद सी है।

नाट्य शास्त्र में भरत ने इस सम्बन्ध में अति विस्तार से बताया है। नृत्य की सभा रचना दो भागों में विभक्त की गई है—प्रेक्षागृह एवं रंगभूमि। प्रेक्षागृह में नृत्य प्रदर्शन देखने के लिए सभापति (राजा), मंत्री, मित्र, कवि, विद्वान्, एवं पंडित एकत्र होते थे। उस सभा को एक मंत्री संचालित करता था। रंगभूमि अथवा मंच के दो मुख्य भाग होते थे—पहिला अभिनय भाग और दूसरा नेपथ्य-भूमि कहलाता था। अभिनय भूमि के ठीक पीछे एक परदा लगा कर नेपथ्य भाग को पृथक कर देते थे। इस परदे को तिरस्करिणी कहते थे। नेपथ्य भूमि में कलाकार अपना शृंगार करते थे और निर्दिष्ट समय पर अभिनय भूमि में प्रस्तुत हो कर नृत्य-प्रदर्शन करते थे। नृत्य-प्रदर्शन के पूर्व वे 'रंगदेवता' (मंच की अधिष्ठात्री देवी) की वंदना करते थे।*

मंच की विशेष सज्जा शृंगार करने के भी निर्देश यथा विधि दिये गये हैं। विभिन्न प्रकार कैसे के परदे लगाकार बंदनवार, तोरणों पताकाओं से उसे सजाना

*भरतकुल भाग्यकलिके भावरसानन्द परिणताकारे
जगदेक मोहनकले जय जय रंगाधिदेवते देवि ॥

चाहिए। मंगल कलशों एवं पुत्त लिकाओं से कैसे सम्पूर्ण मंच को रंगमय बनाना चाहिए। रंग-मंच को कितने श्रम से विश्वकर्मा प्रस्तुत करते थे इसे नाट्यशास्त्र में देखा जा सकता है। प्रेक्षक को वास्तविकता का बोध कराने के लिए कई उपकरण तैयार किये जाते थे। कुछ जिन्हें बाँस के माध्यम से बनाते थे वे संधिम कहलाते थे। कुछ जिन्हें व्याजिम कहते थे वे यंत्र-चालित साधन होते थे। वेस्तिता केवल कपडों के बने हुए उपकरण होते थे। चेष्टिम के अन्तर्गत वे आते थे जिन्हें नृत्यकार या अभिनेता अपनी कला द्वारा प्रस्तुत करने की चेष्टा करता था। मंच के लिए भी निर्देश दिये गये हैं जिनमें यह भी कहा गया है कि मंच को इतना चिकना नहीं बनाना चाहिए जिस पर नृत्य करते समय पैर फिसलने का भय हो।

सम्प्रति हमारा रंगमंच यूरोपीय शैली पर बनने लगा है। इस प्रकार के स्टेज या 'रंगमंच' को विकसित करने का श्रेय फिर उन्हीं व्यवसायी नाटक कम्पनियों को है। वस्तुतः यहाँ नाटक को ही दृष्टि में रख कर मंच की व्यवस्था हुई। नृत्य के लिए इतने परदे वाले स्टेज या मंच की आवश्यकता नहीं पड़ती। उदयशंकर जैसे कई कलाकारों ने इस सारी तड़क-भड़क को तोड़ कर मात्र आगे-पीछे काले परदे लगा कर नृत्य-प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि यह शैली अत्यन्त सरल और सहज थी और आज भी अपनी सरलता के कारण लोक प्रिय है किन्तु कुछ नृत्य पारखियों का कहना है कि पीछे काले परदे की पृष्ठभूमि रहने से कलाकार का व्यक्तित्व उस तमिस्रा में डूब जाता है और उस पृष्ठभूमि में वह उभरता नहीं है। इसके विपरीत कुछ कलाकारों ने पृष्ठभूमि में श्वेत परदा लगा कर नृत्य-प्रदर्शन किया। उनका विचार था कि श्वेत परदे पर जितने कोणों से कलाकार की विभिन्न मुद्राओं की प्रतिच्छाएँ पड़ती हैं उससे कला के प्रदर्शन में एक विराटता का सहज बोध दर्शकों को होता है। छाया नृत्य के लिए तो इस श्वेत परदे का उपयोग बहुत आवश्यक है। रामगोपाल जैसे कुशल नर्तकों का यह मत है कि पृष्ठभूमि में एकमात्र साधारण परदे को रखने की अपेक्षा नृत्य की विषयवस्तु के अनुसार वातावरण उपस्थित करना अधिक वांछनीय है। उनका कहना है कि इस प्रकार की दृश्य

सज्जा दर्शकों को उस विशिष्ट ढंग की नृत्य शैली अपनी सम्पूर्णता में अधिक ग्राह्य हो जाती है। उदाहरण के लिए यदि भरत नाट्य का एक अंश प्रस्तुत करना है तो सर्वोत्तम यह होगा कि मंच पर देवालय के कुछ भागों को प्रदर्शित किया जाय और नर्तक उनकी पृष्ठभूमि में अपना नृत्य प्रस्तुत करें, अथवा कत्थक नृत्य के लिए मुस्लिम संस्कृतियुक्त किसी दरबारी वातावरण की सृष्टि की जा सकती है। रामगोपाल के इस कथन में किसी अंश तक सार हो सकता है। किसी सीमा तक सम्बन्धित वातावरण की सृष्टि नृत्यकार का कार्य बहुत सहज कर देता है। किन्तु फिर भी इस प्रकार की चेष्टाओं की सीमाएँ नहीं होतीं, यही इसका सबसे बड़ा खतरा है। मंच की यह सज्जा इतनी बढ़ने लगती है कि वह नाटक का रूप लेने लगती है। उसकी सीमा यहाँ तक आ पहुँचती है कि दर्शक नृत्यकार की कला को गौण महत्व देता है और मंच की नाटकीय सज्जा को प्रथम। यह नाटकीय सज्जा यदि कलाकार की कला को नहीं दबाती तो वह ग्राह्य हो सकती है किन्तु उसे मात्र पृष्ठभूमि का कार्य करना चाहिए। हाँ 'बैले' (नृत्य गाथाओं) में इसका कुछ अधिक उपयोग हो सकता है।

मंच पर कलाकार को किस प्रकार आना चाहिए और किस प्रकार पूरे मंच का उपयोग करना चाहिए जिसमें मंच का कोई भाग रिक्त न दिखे और मंच की पूरी व्यवस्था का उपयोग कलाकार अपनी कला को पूर्ण रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ हो। यह भी नर्तक के लिए प्राथमिक उपयोगिता की वस्तु है। इसके लिये आवश्यक यह है कि मंच को चित्र बनाकर पहिले ही से नृत्य के गति-आन्दोलनों को ध्यान में रखते हुए बाँट देना चाहिए। इस प्रकार नृत्यालेखन कर लेने पर सम्पूर्ण नृत्य प्रक्रिया का प्रभाव क्या पड़ेगा इसे कुशल नर्तक सहज ही समझ लेता है। समूह नृत्य में मंच पर इस प्रकार का नृत्यालेखन अत्यंत आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार का मंच-नृत्यालेखन पश्चिम में तो एक कला बन गई है। इस देश में नर्तक इस दिशा में अब सोचने लग गये हैं, और मंच की व्यवस्था पूर्ण होने पर सदैव उसे चिह्नित कर लेते हैं।

चिन्ह बनाते समय मंच निर्देशक एवं नृत्यकार को प्रकाश के प्रबन्ध पर भी ध्यान रखना चाहिए। मंच की श्रीवृद्धि करने में प्रकाश की समुचित प्रकाश व्यवस्था होना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार अपनी तूलिका से चित्रकार चित्रों में नये रंग भर उनके नये आयाम उभार देता है, ठीक उसी तरह प्रकाश व्यवस्थापक नृत्यकार की गतिशीलता को भावों के नये रंगों से अंकित कर अधिक सशक्त एवं भावयुक्त बना देता है। प्राचीन युग में भी नृत्यों के प्रदर्शन रात्रि में होते थे। अतः महाकाय प्रदीपों में बाती जला कर रंगभूमि आलोकित की जाती थी। बहुधा मशालों का भी प्रयोग इसके लिए किया जाता था।

किन्तु विज्ञान ने नृत्य की टेकनीक में प्रकाश व्यवस्था को अधिक प्रभविष्णु और सक्षम बनाने में यथेष्ट योग दिया है। आज का आधुनिक रंगमंच समुचित प्रकाश के बिना एकदम अधूरा है। यह प्रकाश-व्यवस्था विभिन्न रूपों में की जाती है। जैसे—

(१) पद प्रकाश	मंच पर सबसे आगे नीचे लगाई जाती है।
(२) तीव्र प्रकाश	मंच को पूर्ण रूप से आलोकित करने के लिए प्रयुक्त की जाती है।
(३) पट्टिका प्रकाश	विशेष कोण प्रकाशित करने के लिए लगाई जाती है।
(४) पृष्ठ प्रकाश	पीछे के दृश्य और अभिनयों को प्रकाश में लाने के लिए प्रयुक्त होती है।
(५) स्थल प्रकाश	विशिष्ट अंग या गति को दर्शकों की दृष्टि में उभारने के लिए एक विशिष्ट स्थल पर ही वह प्रकाश पहुँचा दिया जाता है।
(६) सीधा प्रकाश	साधारण प्रकाश; मंच के लिए।

इसके अतिरिक्त 'आर्क लैम्पों' का प्रयोग भी प्रकाश के विभिन्न कोणों एवं आयामों को उभारने एवं उनमें रंगमयता को भरने के लिए करते हैं। चूँकि ये सभी टेकनीक यूरोपीय हैं अतः इनके नाम भी अंग्रेजी में चलते हैं।

विभिन्न भावावेगों को रंगमय एवं रसमय बनाने के लिए प्रकाश की

सुनियोजित व्यवस्था रखना श्रेयस्कर है। भारतीय नृत्य अपनी मूल परिकल्पना में चूँकि प्रतीकात्मक ही है अतः प्रकाश के आलोकमय रंगों से उस काल्पनिकता को और भी अधिक सघन, सप्राण एवं बोधगम्य बनाया जा सकता है। विशिष्ट भाव एवं स्थितियाँ प्रकाश की सहायता से जितनी सरलता के साथ प्रस्तुत की जा सकती हैं उतनी दूसरे माध्यमों से सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए 'ज्वाला' या 'प्रज्वलित अग्नि' अथवा वर्षा या रात्रि तथा दिन एवं इसी प्रकार के भावोद्वेग विभिन्न रंगों के माध्यम से मंच पर दिखाये जा सकते हैं। प्रकाश की इस नियोजत शक्ति को माध्यम के रूप में अभी भारतीय नृत्यों में इस सीमा तक प्रयुक्त नहीं किया जा सका है जितना पश्चिम में हो चुका है। एक नृत्य आलोचक के अनुसार तो पश्चिम में एक जीवित फैक्टरी को भी रंगमंच पर केवल प्रकाश व्यवस्था के ही माध्यम से उतार दिया गया था। यदि इस प्रकार की दृश्यावली केवल प्रकाश-व्यवस्था से ही सम्भव हो सके तो मंच-व्यवस्था की बहुत सी कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं।

इन प्रकाश व्यवस्थाओं को घटाने तथा बढ़ाने का साधन भी उपलब्ध होना चाहिए, नृत्य के माध्यम से आज कितनी ही कथाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। उन कथाओं के सभी आयामों को उभारने के लिए इस प्रकाश का उपयोग किया जाना चाहिए। प्रकाश व्यवस्थापक को पूर्वाभ्यासों में यह बात भी अच्छे ढंग से समझ लेना चाहिए कि किस कोण से प्रकाश पूर्ण रूप से विकसित होता है। प्रायः इन प्रकाश-प्रक्षेपों से कलाकारों की बेडौल प्रतिच्छायाएँ पृष्ठभूमि के परदों पर पड़ती है जो रस सृष्टि में बाधक हो जाती हैं।

मंच और प्रकाश की यह व्यवस्था जिसकी चर्चा हम अभी कर रहे थे वह नगरों में ही सम्भव है। वह भी ऐसे नगरों में जहाँ सभी प्रकार की आधुनिकतम सुविधाएँ प्राप्त हैं। किन्तु नृत्य को सर्व सुलभ बनाने के लिए इस देश में कुछ नये प्रयत्न करने पड़ेंगे। 'मुक्त रंगमंच' की संभावनाएँ हैं। किन्तु जैसा कह चुके हैं, वह सब के लिए सम्भव नहीं है। देश में विचरण करने वाले कलाकारों को इस दिशा की संभावनाओं पर विचार करना चाहिए और नये माध्यमों की खोज करनी चाहिए। ● ● ●

लोक नृत्य

लोक-नृत्यों की परम्परा

●

विभिन्न वेशभूषा, भाषा और भौगोलिक स्थितियों के अस्तित्व के बावजूद भारतीय संस्कृति जिस एकसूत्रता में अविच्छिन्न रूप से बँधी है, उसकी संपूर्ण सौंदर्यानुभूति जैसी लोक-नृत्यों में प्राप्त होती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। वैष्णवी भक्ति से ओतप्रोत मणिपुर प्रदेश से लेकर पश्चिम की गुजराती द्वारिका तक, झीलों के देश कश्मीर से लेकर समुद्र की लहरों को चूमते हुए दक्षिण भारत तक, सब ओर लोक-नृत्यों में एक जैसे उल्लास एवं रसबोध तथा भाव के दर्शन होंगे जो उन सबको भारतीयता की संज्ञा से विभूषित करते हैं। भारतीय मिट्टी में धड़कता हुआ जनमानस उनकी गतिमयता में हर क्षण मुखरित होता रहता है।

भारत के कृषक जीवन का पूर्ण प्रतिबिंब इन लोक-नृत्यों में उतरा है। प्रकृति और कृषि का जो साहचर्य भारतीय लोक मानस में अपनी परंपराओं के साथ छोड़ गया है वह सहज रूप से सब ओर हमारी रागात्मक वृत्तियों में मुखर हो उठा है। इसी कारण ये नृत्य अधिकतर या तो धार्मिक पर्वों या मेलों से सम्बन्धित हैं, अथवा खेतों की विभिन्न प्रक्रियाओं से। धार्मिक पर्वों पर जो नृत्य प्रचलित हैं, वे भी अप्रत्यक्ष रूप से उस कृषक धर्म की ही प्रतिच्छाया है। अपने देवी-देवताओं को प्रसन्न रखने के लिए, खेती की सफलता के लिए, समृद्धि एवं सुख के लिए कृषक उनको अपने नृत्यों से रिझाते हैं। जब वे उनके विश्वासों के अनुसार उनके मनोरथ सफल कर देते हैं तो वे पुनः उनके प्रति अपनी कृतज्ञता यापित करने के हेतु अपनी भावांजलि नृत्य के रूप में चढ़ाते हैं। इस प्रकार के धार्मिक नृत्यों का स्वरूप कई ढंगों में विकसित हुआ है। कुछ नृत्य तो ऐसे हैं जो मात्र पूजा भावना पर आधारित हैं। उनमें लोक-यूथ एकत्र होकर विभिन्न अवसरों, पर्वों और मेलों में किसी विशिष्ट मन्दिर अथवा स्थान में उन नृत्यों का प्रदर्शन करते हैं, गीत गाते हैं और भावातिरेक में विभिन्न प्रकार के नट कौशल प्रस्तुत करते हैं। दूसरे ढंग के धार्मिक नृत्य वे होते हैं जिनमें नृत्यकार की कल्पना जाग्रत होती है। नर्तक विभिन्न पौराणिक कथाओं को आधार बनाकर स्वयं अपनी कल्पना से देवी-देवताओं का रूप बनाता है और उसके विपरीत दूसरा नर्तक नृत्य की पूर्व संयोजना के अनुसार किसी राक्षस अथवा असुर का रूप धारण करता है। देवता द्वारा असुरदल की पराजय दिखा कर वे बहुश्रुत जनभावना—असत पर सत की विजय—का प्रदर्शन करते हैं और अंततः लोक मंगल की भावना की प्रतिष्ठा करते हैं। इस प्रकार के लोक-नृत्य नाम हर प्रदेश में अत्यन्त स्वाभाविक रूप में देखे जा सकते हैं। धार्मिक नृत्यों का मानवीय स्वरूप भी जिस प्रकार इन नृत्यों के माध्यम से उभरा है, वह भी लोक चेतना का एक अद्भुत स्तर है। राधा और कृष्ण की अंनत प्रेम लीलाएँ जो नृत्यों में आई हैं वे उन्हें धार्मिक रूप की अपेक्षा सहज मानवीय रूप में रंग देती हैं। प्रेम की ये लीलाएँ धार्मिकता को प्राधान्य नहीं देतीं।

धर्म के अतिरिक्त जिस वस्तु ने इन लोक-नृत्यों को विशेष गति-संचालनों और गठनों में बाँधा है वह है प्राकृतिक अथवा भौगोलिक स्थितियाँ। विशिष्ट प्रदेशों के निवासियों के लोक-नृत्यों में उन्हीं तत्वों की जाने या अनजाने विशिष्ट अभिव्यक्ति हुई है जो उस क्षेत्र की प्रकृति का अपना सहज शृंगार है। हिमालय के उत्तुंग गिरि शिखरों की महानता और हिमशिखरों का रसोद्वेग पहाड़ी क्षेत्रों के लोकनृत्य में देखा जा सकता है। लोकनृत्य के विशेषज्ञों का इसी प्रकार मत है कि मणिपुरी नृत्य के आन्दोलन और तीव्र आवेग वाले अंग-संचालन मणि-प्रदेश के उन भयंकर तूफ़ानों और झंझावातों को मुखरित करता है जिनके कारण बहुधा वृक्ष तक टूट-टूट कर गिरने लगते हैं। इसी प्रकार नागाओं के नृत्य की तीक्ष्ण जागरूकता एवं शंकाकुलता ही वे मूलाधार हैं जो बीहड़ वनों में किसी भी क्षण आने वाली आशंका के प्रति उनकी सतत जागरूक चेतना को परिलक्षित करती हैं। मैदानों में थिरकने वाले लोकनृत्यों में जिस सहज मंथरता एवं शान्तिप्रियता के दर्शन होते हैं वह उस क्षेत्र के निवासियों की मूल प्रवृत्ति का भी परिचायक है। इसी प्रकार आदिवासियों के लोक-नृत्यों में उनके अंधविश्वासों से पूरित जादू-टोने के रहस्यमय क्षेत्रों की विचित्र अनुभूतियाँ दीख पड़ती हैं और सागर की उद्दाम तरंगों का प्लावनमय गरजन प्रायः समुद्रतट के मछुओं के गीत और नृत्य में मिल जाता है।

इन सब तत्वों ने मिल कर लोक जीवन में अपने को ऐसा घुला-मिला दिया है कि वह उनके नैमित्तिक जीवन का एक गतिमान अंश बन गया है। आज अनेक प्रकार के लोक-नृत्य उनकी फसल की बुवाई, कटाई और शिकार की वृत्तियों पर आधारित हैं। ये नृत्य न केवल उनकी उन प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हैं वरन् उनके बच्चों को अपने कुल की इन सभी मूल प्रवृत्तियों का परिचय भी देते चलते हैं। इसी प्रकार ऋतु-सम्बन्धी नृत्यों में भी उसी सामाजिक जीवन की गतिमयता का बोध होता है। उनकी इस प्रेरणा के स्रोत चाहे सावन के कजरारे मेघ हों, या वसंत की मन्द मधुवंती बयार, या शरद की दुग्धफेनिल पूर्णिमा—मूल रसानुभूति एक-सी ही होती है। इन लोक-नृत्यों

में वाह्य सामाजिक जीवन और अन्तर्मन के भावाद्वेगों का रागात्मक सन्तुलन दिखाई देता है।

भारतीय नृत्य की विभिन्न प्रचलित शैलियाँ किसी न किसी प्रकार अपने मूल रूप में लोक-नृत्यों से ही उद्भूत हुई हैं। यह नृत्य जब विशिष्ट कला के रूप में स्वीकृत होकर, जन मानस से कट कर मात्र विशिष्ट व्यक्तियों या कला-पारखियों में सीमित हो जाता है, उसका लोक स्वरूप नष्ट हो जाता है तब उसी के आधार पर शास्त्रीय नृत्य का जन्म होता है। लोक-नृत्यों में जब बौद्धिकता अधिक आने लगती है और उसमें टेकनिकल जटिलताओं को प्रश्रय मिलने लगता है तो वे ही नृत्य अपना रूप सँवार कर शास्त्रीयता की ओर उन्मुख होने लगते हैं। लोक मानस से कट जाने के कारण वह नृत्य जिन विशिष्ट व्यक्तियों में सीमित हो जाता है वे उनमें नई उपलब्धियाँ प्राप्त करने के लिए क्रियाशील होते हैं। समूह नृत्य में कला की जिन सूक्ष्मताओं और जटिल अंग-संचालनों की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है, वह वैयक्तिक प्रदर्शनों में अभ्यासों के द्वारा सफल हो सकी। लोक-नृत्य कला प्रदर्शनों में दर्शकों का वैसा महत्व नहीं है जैसा शास्त्रीय नृत्यों के लिए कलाकार चाहता है। लोक नृत्य में दर्शक मात्र दर्शक ही नहीं रह जाता। वह भी उस नृत्य में अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति पाता है। वह कुछ क्षणों में ही उस लोक नृत्य में उसी उत्साह और उसी प्रेरणा के साथ पूर्ण योग देने लगता है। उसके लिए उसे एक विशिष्ट कलाकार होने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। लोक मंगल की सम्यक् अनुभूति उस दर्शक को कलाकार की कोटि में खींच ले जाती है। किन्तु शास्त्रीय नृत्यों के साथ ऐसा सम्भव नहीं है। शास्त्रीय नृत्य का कलाकार दर्शकों को अपनी कला में योग देने की छूट कभी नहीं दे सकता। उससे उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति में व्यवधान होता है। इसी हेतु शास्त्रीय नृत्य में अधिकांशतः जनरंजन का पक्ष ही प्रबल होता है, जन-योग का भौतिक पक्ष नहीं। लोक-नृत्य की कला ज्यों-ज्यों अधिक संस्कृत होती जाती है, त्यों-त्यों वह कलात्मक तत्वों के प्रति अधिक सचेष्ट, जागरूक एवं सतत्-चेतन हो उठती है और वह भावों के अनेक दुर्गम स्तरों को स्पर्श करने में समर्थ हो

जाता है। किन्तु लोक-नृत्य की कला उन मूल मानवीय संवेगों को आधार भूत रूप से प्रस्तुत कर रही है जिनमें हमें प्रेम, करुणा, दया, राग, निश्छलता आदि अनेक मूल्यों के दर्शन होते हैं। उनमें कहीं कोई बनावटीपन या सभ्यता-जनित-कुरूपता या अश्लीलता पर परदा डालने का संस्कृत प्रयास नहीं निहित होता। इसी कारण यह लोक-नृत्य सुसंस्कृत एवं परिष्कृत रुचि बोध को चाहे ग्राह्य न हों किन्तु वे अपने भीतर उन समस्त तत्वों को समाहित किये हुए हैं जो उन्हें महान् बनाते हैं।

सम्प्रति इन लोक-नृत्यों के प्रति सांस्कृतिक पुनर्जागरण के काल में एक नया उत्साह दीख पड़ता है। अनेक कल्चर सोसाइटियों और संस्कृति केन्द्रों एवं प्रतिष्ठानों से लोक-नृत्यों के पुनर्मूल्यांकन एवं पुनर्स्थापन का प्रयत्न हो रहा है। इनमें बहुधा सरकारी एवं अर्ध सरकारी प्रयत्न भी सम्मिलित हैं। राष्ट्रीय महत्व के दिवसों पर लोक-नृत्यों के प्रदर्शन की तो एक प्रथा-सी चल पड़ी है। किन्तु इन सभी प्रयत्नों में अधिकांश उसी ढंग की प्रवृत्ति पृष्ठभूमि में कार्य करती दिखाई पड़ेगी जो फैशन के नाम पर सोफ़े वाले ड्राइंग रूमों में मूँज की रंगबिरंगी टोकरियाँ टँगवाने के लिए बाध्य कर देती है। उसके पीछे लोक-नृत्यों की महानता एवं परम्पराओं के निर्वाह की चेष्टा उतनी सक्रिय नहीं है जितनी कि लोक-नृत्य को प्रचलित सौंदर्यशास्त्र की एक टेकनीक के ढंग पर देखने की। इसका परिणाम यह होता है कि लोक-नृत्यों के नाम पर तथाकथित शिक्षित (?) युवक-युवतियों के द्वारा लोक-नृत्यों के स्वांग रचे जाते हैं। लोक-नृत्यों की अबाध अकृत्रिम गतिमयता को कूल्हे मटका कर, कैरीकेचर बनाकर प्रदर्शित किया जाता है। उनके साथ चलने वाले पृष्ठभूमि के संगीत में यत्र-तत्र ऐसे नागरिक और पश्चिमी वाद्यों एवं धुनों का प्रयोग किया जाता है जो लोक-नृत्यों के संस्कार के नाम पर किये जाने वाले बाबूगीरी - नागरिक-संस्कृति के बुद्धिजीवियों की कुरुचि का परिचायक मात्र है। किन्तु इस प्रकार के प्रदर्शनों को प्रश्रय इस कारण मिलता है कि ये शिक्षित (?) युवक-युवतियाँ-कल्चर के ये अग्रवाही दूत-राजधानियों तक दौड़-दौड़ कर जाने में चिर सक्रिय रहते हैं। अतः यदि वे विदेशों में या विदेशियों के सम्मुख भारत की लोक-नृत्य

कला के 'परम-कलाकार' के रूप में प्रस्तुत होने में समर्थ हो जाते हैं तो इसमें अचरज भी क्या ?

लोक-नृत्यों को अपना 'शो-पीस' बनाकर उससे लाभ उठाने वाली कुछ राजनीतिक पार्टियाँ भी हैं जिन्होंने लोक सांस्कृति को सदा उसी लाइन में पाया और प्रस्तुत किया जो उनकी पार्टी-लाइन थी। इन पार्टियों ने अपने राजनैतिक उद्देश्यों को सिद्ध करने के लिए लोकरुचि को जिस प्रकार और जितना भी सम्भव हो सका, विकृत करने का चिरंतन प्रयास किया है। इन पार्टियों के कला-मोर्चे पर कार्य करने वालों ने लोक-नृत्य के सशक्त माध्यम को खूब पहचाना और उसके द्वारा उन्होंने भ्रामक प्रचार करके उन वर्ग-संघर्ष फैलाने वाले तत्वों और विषय-वस्तुओं के आधार पर लोक-नृत्यों की रचना कराई जो न तो देश की धरती से अपना सीधा सम्बन्ध रखते थे और न उनका व्यापक रागबोध ही था। वे सीधे पार्टी के प्रचार से सम्बन्धित थे। कला-मोर्चे के कार्यकर्ता जितने ही भोंड़े स्तर के होते, उतने ही भोंड़े, विकृत एवं कुरूप उनके ये लोक-कला (?) के प्रदर्शन होते। नगाड़े बजा कर नाच दिखाने के लिए लोगों को एकत्र करके उस माध्यम से पार्टी का प्रचार न केवल लोक-नृत्यों के मूल तत्वों को विनष्ट करता है वरन् उसके माध्यम से एक कटु तथा विषाक्त वातावरण की भी सृष्टि होती है जिसका विरोध करना हर कलाप्रिय व्यक्ति का दायित्व है।

यदि लोक जीवन को पुनः इन्हीं विलुप्त मांगलिक माध्यमों से नये रस तत्व का बोध कराना श्रेय हो तो उसके लिए इन भ्रामक और सस्ते, कुरुचि-पूर्ण प्रदर्शनों की छँटाई करके तथा पार्टी-लाइन पर चलने वाली लोक संस्कृति को इसकी राह से हटाकर नवीन मूल तत्वों की स्थापना करनी होगी। ● ● ●

उत्तर प्रदेश के लोक-नृत्य

●

उत्तरभारत का यह प्रदेश मुख्यतः शासकों की राजधानियों की भूमि रहा है। गंगा-यमुना के आँचल में पोषित यह भूमि न केवल धनधान्य से पूरित थी वरन् उसकी अन्य भौगोलिक विशेषताएँ देश के दूसरे सभी प्रदेशों की अपेक्षा उसे अधिक महत्वपूर्ण बनाती है। शासन ने सदा ही लोक-संस्कृति को दरबारी संस्कृति की ओर खींचा है। अतः उसके द्वारा एक सचेष्ट प्रयास इस ओर हुआ कि उसे गँवार की संज्ञा से मुक्त किया जाय और वह राजधानी की संस्कृति से अपने को सुसज्जित कर सके। दरबारी संस्कृति की ओर दौड़ने की इस चेष्टा में उत्तर प्रदेश के लोक-नृत्यों को न तो कभी विकसित

होने का अवसर मिला और न इनका कभी सही मूल्यांकन ही हो सका। जिन्होंने अपने कौशल से अपने को उससे मुक्त कर लिया वे 'शहरातू' हो गये जो नहीं निकल सके वे गँवार देहाती, अश्लील और बेवकूफ की संज्ञाओं से विभूषित होकर संतुष्ट रहे।

छोटी जातियों में प्रचलित कुछ सामूहिक नृत्य इस शहराती संस्कृति की मार से किसी सीमा तक बचे रहे। किसी के घर पुत्र-जन्म लेने या विवाहादि के अवसर पर होने वाले अहीरों-चमारों या कहारों के सामूहिक नृत्य इनमें प्रमुख हैं। इन नृत्यों में भी अहीरों का नृत्य अपने नट-कौशल एवं वेशभूषा तथा रस-वैचित्र्य के लिए अत्यन्त आकर्षक है। रंग-बिरंगी कच्छी या जाँघिया में उनके घुंघरू टँके रहते हैं। पूरी आस्तीन की चिपकी हुई (कुरती या कभी-कभी नंगे बदन) और ऊपर से रंगीन पगड़ी बाँध कर ये अहीर अपने पूरे उत्साह के साथ नृत्य करते हैं। इन नृत्यों में ये अपने बिरहे भी गाते हैं। गीत गाकर पुनः ये विभिन्न नट-कौशल दिखाते हुए वृत्त में घूम कर नाचते हैं। इस नाच के साथ ढोल और झाँझ बजती है।

चमारों के नृत्य में रोचकता की मात्रा अधिक रहती है और वे जनसमूह को शीघ्र ही आकर्षित कर लेते हैं। इनके नृत्य में नाट्य की प्रधानता रहती है। ये 'स्वाँग' करते हैं। इनके इन व्यंग्यपूर्ण स्वाँगों में आधुनिकता की विषमताओं की बड़ा सशक्त आलोचना रहती है। किसी किशोर बालक को लड़की की वेशभूषा में सजाकर वे समूह में नचाते हैं। इसमें एक विदूषक होता है जो उल्टे-सीधे ढंग से—कुछ नवीन कुछ प्राचीन—पगड़ी के ऊपर एक फटा हुआ हैट लगाकर इस प्रकार उस नृत्य की संयोजना को चलाता है कि उपस्थित समुदाय का मनोरंजन होता रहता है। इन नृत्यों में बहुधा लोकरंजन के लिए संवादों में अश्लीलता की भावना भी दिखाई पड़ जाती है।

यही बात कुछ अधिक सीमा तक कहारों के नृत्यों में भी दिखाई पड़ जाती है। किशोर बालक जो बालिका के वेश में होता है इस ढंग से अपना अंग-संचालन करता है जो शृंगारिकता को विद्रूप की ओर ले जाता है।

लोक-नृत्य

उत्तरप्रदेश का लोक-नृत्य

महाराष्ट्र का लोक-नृत्य

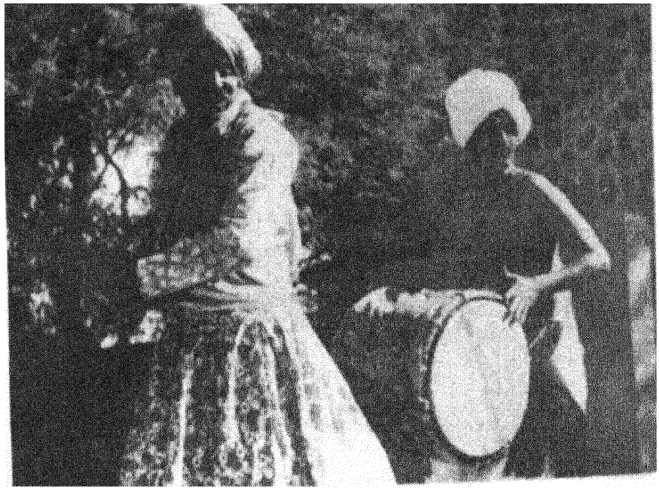

महाराष्ट्र के लोक-वादक

बिहार की लोकनर्तकी

एक धार्मिक नृत्य था जो बहुधा मंदिरों या भक्त समुदायों के बीच किया जाता था। किन्तु समय के साथ रासलीला नृत्य में शृंगारिक भावनाओं को विशेष परिष्कृत होने तथा अभिजात्य संस्कृति की ओर अधिक रुझान होने का नया अनुभव होने लगा। उत्तर प्रदेश का 'कत्थकनृत्य' किसी अंश तक इसी 'रासलीला' पर ही आधारित है।

मुस्लिम शासकों की विलासिता की जो छाप उत्तर भारत की अनेक लोक कलाओं पर पड़ी वह स्पष्टतः पहाड़ी क्षेत्रों तक नहीं पहुँच सकी। उत्तर प्रदेश के कुमायूँ एवं गढ़वाली क्षेत्रों में उनके अपने अनेक लोक नृत्य आज भी उतनी ही स्फूर्ति रसमयता एवं ताज़गी का परिचय देते हैं।

'झोरा' नामक पहाड़ी नृत्य सामूहिक नृत्य है। विशेष उत्सवों पर वे एकत्र होकर एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर वृत्तों में नाचते हैं और अपने गीत गाते हैं। 'छपेली' नामक नृत्य एवं गीत प्रणयी-युग्मों का नृत्य है जिनमें वे अपने विरह एवं मिलन के सुखद क्षणों की स्मृतियों का वर्णन करते हैं और उन क्षणों की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए नृत्य से उसे सँवारते हैं। 'थाली' नृत्य स्त्रियों का सामूहिक नृत्य है। 'जुड़ा औ झेण्टा' वे सामूहिक नृत्य हैं जिनमें पुरुष और नारियाँ एक संग नृत्य करती है। 'थूरा' नृत्य में पुरुष अपने हाथों में तलवार या उसकी प्रतीक लकड़ी लेकर नगाड़ों की धुनों पर नृत्य करते हैं। यह पौरुष युक्त वीर रस का एक नृत्य है। इन नृत्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे नृत्य भी हैं जो वस्तुतः उनके अंधविश्वासों पर आधारित हैं तथा जादू-टोने की विभिन्न प्रक्रियाओं से उद्भूत होते हैं। वे इन नृत्यों से अपने प्रदेश की दैविक विपत्तियों से बचने का यत्न करते हैं ऐसा उनका विश्वास है।

उत्तर प्रदेश में विन्ध्याचल के क्षेत्र में कहीं-कहीं आदिवासियों के बीच जैसे मिर्जापुर के दुद्धी आदि क्षेत्र में—करमा नृत्य भी प्रचलित हैं। करमा में स्त्री पुरुष साथ-साथ नृत्य करते हैं। कभी एक पंक्ति में खड़े होकर और कभी वृत्ताकार घूम कर ये लोग अपने शरीर के विभिन्न संचालन प्रदर्शित करते हैं। इस नृत्य में ये तालियाँ बजा कर घूमते हैं और गीत गाते हैं। इनके नृत्यों का एक ढंग होता है। एक बार एक पाँव आगे बढ़ाते हैं फिर पाँव पीछे

राजस्थान के जननृत्य

●

वीरभूमि राजपूताने में अपनी स्वतंत्रता के लिए मर मिटने के अदम्य उत्साह की जो झाँकी हमें भारतीय इतिहास में मिलती है, वह उनके गीतों एवं नृत्यों में पूर्ण रूप से प्रतिअंकित हुई है। वीरों की यश-गाथा राजस्थान के गाथागायकों चारणों ने अपनी ओजस्वी वाणी में मुखरित किया है और वह वाणी उस प्रदेश के जन-जन को अपनी धरती के प्रति सदा एक ममता से बाँधे रही। राजस्थान में यह भावना, मुस्लिम शासकों से लोहा लेते समय बड़ी पनपी। अपने मूल रूप में सहज ढंग से मनाये जाने वाले हिन्दू पर्व और उत्सव इन प्रतिक्रियाओं के स्वरूप कुछ और उभार कर मनाये जाने लगे।

राजस्थान के राजपूतों की वीर भावना इनके नृत्यों में अधिकतर दीख पड़ती है।

राजस्थान की परम्पराओं एवं सांस्कृतिक चेतना को सहेज कर रखने वाले नृत्यों में से 'घूमर' या 'झूमर' नृत्य अत्यन्त प्रमुख है। इस नृत्य को बहुधा सभी महत्वपूर्ण अवसरों और पर्वों पर किया जाता रहा है। होली-दिवाली तथा 'गंगोर' आदि पर्वों और मेलों पर प्रायः घूमर नृत्य से वातावरण मुखरित हो उठता है। लँहगा-ओढ़नियों में सजी हुई स्त्रियाँ, अपने हाथों में दीपकों से भरी हुई थाली लेकर पूजा करने जब जाने लगती हैं तो उनके पाँव अनायास ही थिरकने लगते हैं। शरीर की लोच से सजीव गतिमयता का बोध घूमर नृत्य में प्रायः सब कहीं देखा जा सकता है।

'भवई नृत्य' राजस्थान की एक विशेष उपजाति का नृत्य है। राजस्थान में भी किसी समय ऐसा सोचा जाने लगा था कि नाच-गाना सभ्य एवं कुलीन घराने की महिलाओं के गौरव के अनुरूप नहीं है। इसी कारण भवई लोगों ने अपना पेशा ही नृत्य करने का बना लिया। इस जाति के लड़के अपने बचपन से ही नृत्य की शिक्षा प्राप्त करते हैं और वे जैसे-जैसे बढ़ते जाते हैं भवई नर्तकों के रूप में ख्याति अर्जित करते हैं। इन नृत्यों में लड़कियाँ नहीं होतीं। लड़के ही लड़कियों की तरह नाचते हैं। पूरे नृत्य की संयोजना लोक तत्वों पर ही आधारित होती है। उनके गीत प्रायः श्रृंगार रस प्रधान होते हैं। प्रेम लीलाओं में ही वे ढोलामारू जैसी कथाएँ भी गाते हैं। इन नृत्यों और गीतों में धार्मिक तत्वों का उल्लेख लगभग नहीं के बराबर है। भवई नृत्य करने वाले ये नर्तक प्रायः घूमते ही रहते हैं और इस प्रकार अपना नाच दिखा-दिखा कर पैसा पैदा करते हैं।

ख्याल का नृत्य नाट्य भी राजस्थान का एक अत्यन्त प्राचीन लोक नृत्य है। नौटंकी की तरह इसकी मण्डलियाँ घूम-घूम कर अपना तमाशा गाँव-गाँव में दिखाती हैं और जीवनयापन करती हैं।

कठपुतली वाले लोग भी इसी प्रकार कठपुतली बना कर उनमें कथासूत्र जोड़ते हैं तथा देश के कोने-कोने में चक्कर लगाते हैं। इन कठपुतली वालों की

कथाओं में बहुधा राजपूताने के वीरों की कथाएँ रहती हैं और मुगल दरबारों के चित्र उतारे जाते हैं। ढोल बजाकर ये लोग कठपुतलियाँ नचाते हैं। कठपुतली का नाच आज कल सँवारने की चेष्टा की जा रही है और प्रयत्न हो रहा है कि उसके माध्यम से नई कथाओं और विषय वस्तुओं को परिचित कराया जा सके।

राजस्थान के डोमों का काम बहुधा झाड़ू बनाना होता है और वे अछूत माने जाते हैं। उनके अपने जातीय नृत्यों में जिस उत्साह एवं रोचकता के दर्शन होते हैं, वह भी राजस्थान के लोक-नृत्यों की मूल परम्परा से जुड़ा हुआ है। वे अपने नृत्यों में 'चंग' बजाते हैं और विभिन्न प्रकार के गीत गाते हैं। उनकी गतियों की विविधता और अभिनय अंश की प्रधानता राह चलते लोगों को भी आकर्षित कर लेती हैं।

छोटे-छोटे पेशे में लगे हुए लोगों के अलग-अलग नृत्य हैं। बहुधा ये सभी नृत्य किसी न किसी सीमा तक गीतों के ही सहारे चलते हैं। सँपेरों की जाति भी इसी प्रकार की एक खानाबदोश उपजाति है जो सदा एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूम-घूम साँपों का खेल दिखाते हैं। इन सँपेरों के अपने गीत होते हैं जिनमें विचित्र कथाओं का समावेश रहता है। 'शंकरिया' नामक अपने गीत में वे स्त्री-पुरुष की प्रणय लीला दिखाते हैं। उस गीत के साथ-साथ नृत्य भी चलता है। सँपेरों की जाति में प्रचलित अन्य और भी इसी ढंग की कथाएँ प्रचलित हैं। ये सँपेरे प्रायः 'गुरु गोरखनाथ' को अपना गुरु मानते हैं और देवाधिदेव महादेव की पूजा करते हैं।

थार रेगिस्तान में रहने वाले सिद्ध जाटों का समूह भी गोरखनाथ को अपना गुरु मानता है। ये साधू विभिन्न पर्वों और मेलों पर एकत्र होते हैं। मेलों में प्रायः इनके नृत्य भी होते हैं। बीच में अग्निशिखा प्रज्ज्वलित करते हैं। फिर इनके ढोल नगाड़े और झांझ बजाते हैं। सिद्ध जाटों का समूह अपनी योगिक क्रियाओं के बल पर उस अग्नि में कूद कर नाचता है और फिर बाहर सकुशल लौट आता है। इस दृश्य को देखने के लिए मेलों में अक्सर बड़ी भीड़ लगती है।

राजस्थान में भीलों की संख्या भी काफ़ी बड़ी है। ये भील भी हाथ में बरछे या लाठियाँ लेकर विशेष पर्वों पर नृत्य करते हैं। उनके नृत्य 'गेर' कहलाते हैं। गेर नृत्यों के साथ-साथ ये भील घूमर नृत्य भी करते हैं।

कामद-दल में दो पुरुष और दो स्त्रियाँ रहती हैं। पुरुष गीत गाते हैं स्त्रियाँ नृत्य करती हैं। वे अपने सारे शरीर पर घुंघरुओं और मंजीरों को इस तरह बाँधती हैं कि उनके अंग-संचालन से ही सारी घंटियाँ बजने लगती हैं। यह दल अपने नृत्यों में फसलों के बोने से लेकर कटने तक की सारी प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति करता है।

इन सभी नृत्यों के द्वारा राजस्थान की बहुमुखी अभिव्यक्तियों में एकसूत्रता के दर्शन किये जा सकते हैं। ● ●

बिहार के मनहर लोक-नृत्य

●

बिहार प्रदेश के निवासियों में उनकी लोक कथाओं पर आधारित कतिपय लोक-नृत्य अत्यन्त अद्‌भुत हैं और उनकी आकर्षण-क्षमता भी उसी प्रकार विचित्र है। ये नृत्य कुछ तो मिथिला प्रदेश में परम्परा से चले आ रहे हैं और कुछ ऐसे हैं जो बिहार के पहाड़ी क्षेत्रों में बसे हुए आदिवासियों के अपने विशिष्ट नृत्य हैं।

छोटा नागपूर और इसके निकटवर्ती क्षेत्रों में 'हो' नामक आदिवासियों की बस्ती है। इनकी भाषा और रीतियाँ मुण्डा नामक जाति से बहुत समानता रखती है। उनके गीतों एवं नृत्यों में प्रकृति के प्रति उनका अनुराग एवं

उनके साथ अपने भावों का तादात्म्य भली भाँति देखा जा सकता है। उनके नृत्य कई प्रकार के होते हैं। कुछ नृत्य तो फसल की बुवाई के समय किये जाते हैं। कुछ अन्य ऋतु सम्बन्धी गीत एवं नृत्य होते हैं जो यथावसर प्रदर्शित होते हैं। 'हो' लोग अपने इष्ट देवता को प्रसन्न करने के लिए भी नृत्य करते हैं। वे उसके सामने नृत्य करके अपने फसल की सुरक्षा चाहते हैं। अपने गोधन एवं जल की व्यवस्था को अक्षुण्ण रखना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त विशेष पर्वों या उत्सवों तथा संस्कारों पर भी उनके नृत्य होते हैं। 'ओरांग' (उराँङ् ?) नामक आदिवासियों का वसन्त ऋतु में किया जाने वाला 'जादुरनृत्य' उनके रसमय उल्लास का परिचायक होता है। यह नृत्य स्त्री और पुरुष मिल कर करते हैं। एक बार जिस गति संचालन को पुरुष वर्ग उस नृत्य में करके दिखाता है दूसरी बार उसी भाव भंगिमा को महिला वर्ग करता है। महिलाएँ एक-दूसरे के हाथ में हाथ डाल कर नृत्य करती हैं। पुरुष सींग और खाल के बने हुए विभिन्न वाद्य बजाते हैं। ग्रीष्म में किया जाने वाला नृत्य 'हरहुल' कहलाता है। इसमें प्रायः वाद्यों का प्रयोग नहीं किया जाता है। लोग तालियाँ बजा कर 'हो हो हो' की ध्वनि करते हुए नृत्य करते हैं। इस नृत्य में वीर भावना अधिक सक्रिय रूप से दीख पड़ती है। 'करमा' वर्षा ऋतु में किया जाता है। इसका रूप लगभग वही है जो उत्तर प्रदेश में दिखाई पड़ता है। इनके गीतों में वियोग-भावना की प्रधानता रहती है। वर्षा के व्यतीत होने पर वे अन्य प्रकार के नृत्य करते हैं जिनमें माया, लजुरी एवं झूमर आदि हैं।

विंध्याचल की छाया में बसे हुए संथालों की एक मेखला पूर्व बिहार से उड़ीसा होती हुई पश्चिमी बंगाल तक चली गयी है। संथालों का जीवन जैसा कलात्मक होता है, उसकी प्रतिध्वनि उनके गीतों एवं लोक-नृत्यों में भली-भाँति मुखरित हुई है। प्रायः पूर्णमासी की रात्रि में ढोल और नगाड़ों की ध्वनि से वातावरण गूँजने लगता है और अपने-अपने घरों से अनेक युवक और युवतियाँ पूर्ण श्रृंगार के साथ आकर एकत्र होने लगते हैं। फूलों एवं विभिन्न प्रकार के पंखों से सुसज्जित इन उत्साही युवक-युवतियों का नृत्य अत्यन्त आकर्षक होता है। युवक गीत गाते हैं, वाद्य बजाते हैं और लड़कियों की

टोलियाँ नृत्य करती हैं। संथालों के इन नृत्यों पर आधारित कुछ कलाप्रेमी संथाली—रजवाड़ों—इलाकेदारों ने नये नृत्यों की संयोजना की है जो 'छाड' नृत्य कहलाते हैं। यह 'छाड' नृत्य मुखोश या चेहरे लगाकार किया जाता है। यह नृत्य अधिकतर वसन्त ऋतु में ही होता है। 'छाड' नृत्य बहुत कुछ 'कथाकली' के ढंग का लोक-नृत्य है। इसके लिए चेहरे बनाने वाले विशेषज्ञ कारीगर होते हैं। ये चेहरे ऐसे बनाये जाते हैं कि नर्तक को अपना पूरा शरीर एवं सिर हिलाने-घुमाने की पूरी छूट रहे। चेहरे बनाने वाले विशेषज्ञों के परिवार होते हैं जिसमें परम्परागत रूप से यह कला चली आ रही है। चेहरे लगा कर नृत्य करने से उन्हें लाभ यह हुआ कि नर्तक की सुन्दरता या असुन्दरता पर ध्यान न जाकर उसके नृत्य कौशल पर जाता है। किन्तु हानि यह हुई कि मुख पर किसी प्रकार की भावाभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं होती है। 'छाड' नृत्य को अपने क्षेत्र में यथेष्ट विकसित करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें पौराणिक कथाएँ ही नहीं अपितु आज के जीवन की अनेक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने की चेष्टा की जाने लगी है। इसी कारण 'छाड नृत्य' के संयोजक इस नृत्य शैली को एक विशिष्ट नृत्य शैली के रूप में मनवाने का यत्न कर रहे हैं। वे चाहते हैं कि भारत की चार प्रमुख नृत्य-शैलियों के साथ यह छाड-नृत्य पाँचवी नृत्य शैली के रूप में मान्य हो। यदि इस नृत्य शैली को कुछ अधिक विकसित किया जा सके और इसके नियमों को किसी सीमा तक शास्त्रीय दृष्टिकोण के अन्तर्गत संयोजित किया जा सके तो इसे पाँचवीं प्रमुख शैली के रूप में मान्यता देने में कोई हानि नहीं होगी। किन्तु इस मान्यता की प्राप्ति को लिए इस शैली को कुछ ऐसे प्रमुख नर्तक उत्पन्न करने पड़ेंगे जो इस शैली पर अपने नृत्य को आधारित करके नई भावभूमियों पर खड़े हो सकें।

मिथिला प्रदेश में वर्षा-ऋतु में जाट-जाटिन का श्रृंगारात्मक नृत्य गीत प्रायः अनेक घरों में दिखाई पड़ेगा। सारे काम-काजों से निवृत्त होकर रात में घर और पड़ोस की स्त्रियाँ आँगन में एकत्र होती हैं और यह नृत्य कथा आरम्भ होती है। दो प्रेमियों के मिलने में किस-किस प्रकार की बाधाएँ आ

खड़ी होती हैं यह इस नृत्य में दिखाया जाता है। जाटिन को एक मल्लाह भगा ले जाता है। उसे उसका प्रेमी फिर अपने यत्न से प्राप्त करता है और अंततः दोनों का सुखी जीवन फिर वापस लौटता है। इस नृत्य में कुछ विशिष्ट दृश्य तो बड़े रोचक एवं कौशलपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किये जाते हैं। नाव खेने और लहरों पर उसके चलने की मुद्राओं की अभिव्यक्ति कितने सहज ढंग से ये स्त्रियाँ—और कभी-कभी छोटे लड़के-लड़कियाँ—कर लेती हैं कि आश्चर्य होता है। पूरा नृत्य ढोलक और मंजीरे के सहारे किया जाता है। यह नृत्य उजेले पाख में प्रायः होता है।

इन नृत्यों के अतिरिक्त भी कुछ विशिष्ट जातियों के अपने स्थानीय ढंग के नृत्य हैं जो उनके विशेष उत्सवों एवं पर्वों तथा ब्याह आदि के अवसरों पर प्रदर्शित होते हैं। इन नृत्यों पर शहरी जीवन का काफी प्रभाव दिखाई पड़ता है। बहुधा देखा गया है कि उनमें फिल्मी गीतों की भी जगह बन गई है। ये लोक-नृत्य अपने मूल में अवश्य कभी न कभी लोक जीवन से ही उद्‌भुत हुए होंगे किन्तु अब उनमें लोकरंजकता के नाम पर इतनी मिलावट आ गई है कि वे नृत्य अपने उन मूलतत्वों से सर्वथा विच्छिन्न होते जा रहे हैं। ● ●

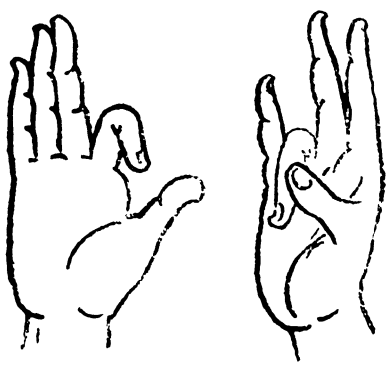

उड़िया आदिवासियों के नृत्य

●

उड़ीसा की लोककला का आकर्षण विन्दु संथाली-संस्कृति रहा है। उनके गीतों एवं लोक-नृत्यों में जिस रस का बोध होता है वह अपनी मधुरिमा के लिए विख्यात है। संथालों के गीतों एवं नृत्यों को मान्यता देने वालों में विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने संथालों के विभिन्न नृत्यों को सँवार कर विभिन्न अवसरों पर प्रदर्शित किये और उनके प्रति लोगों में कुतूहल तथा जिज्ञासा उत्पन्न की। कलाप्रेमियों एवं नृत्य-शास्त्र में रुचि रखने वाले लोगों की रुझान इस प्रदेश के लोक-नृत्यों की ओर इस प्रकार क्रमशः बढ़ती ही गई।

मध्य प्रदेश के आदिवासी नर्तक

उड़िया लोक-नृत्य के वादक

लोक-नृत्य

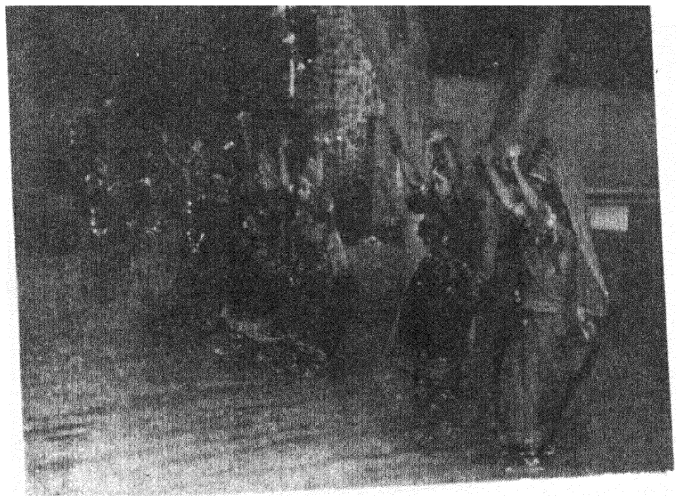

आंध्र प्रदेश का लोक-नृत्य

बिहार का करमा लोक-नृत्य

इस प्रदेश में कुछ संथालों की छोटी-छोटी जागीरें भी हैं जिनके इलाकेदारों या छोटे रजवाड़ों ने संथाल नृत्यों के विकास में बड़ी अभिरुचि दिखाई है। मयूरभंज का परम्परावादी लोक-नृत्य 'छाड' अत्यन्त प्रसिद्ध है। उस क्षेत्र में 'पैइका' लोगों का यह अपना वीरतापूर्ण नृत्य है।

इन लोगों ने अपने आपको किसी विशिष्ट ढंग की विषय वस्तु से बाँध नहीं रक्खा है। पुराणों पर आधारित कुछ कथाओं को भी वे अपने मनचाहे ढंग से तोड़-मरोड़ कर उनमें अपने संशोधन करके नृत्यों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। 'माया-शबरी' की एक नृत्य कथा बड़ी रोचक है। समुद्र-मंथन के बाद विष्णु ने मोहिनी का रूप बना कर भूतनाथ भगवान महादेव को रिझाया था। यह बात पार्वती को एक स्त्री होने के नाते बहुत अप्रिय लगी थी। सत-युग की इस घटना का प्रतिशोध द्वापर में पार्वती ने शबरी का रूप धारण करके लिया। अपनी सखियों सहित उन्होंने कृष्ण को अपने रूप-जाल से मोहित किया और भुलाते-भुलाते उन्हें कैलाश पर्वत तक ले गयीं। भगवान महादेव कृष्ण को इस प्रकार देख कर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और वे उन्हें अपने त्रिशूल से मारने ही जा रहे थे कि पार्वती ने सारी कथा बताकर उस स्थिति को सम्हाल दिया और कृष्ण के प्राणों की रक्षा की। कृष्ण को जब सारी स्थिति का पता चला तो वे बहुत लज्जित हुए और प्राण-दान माँगने लगे। इस नृत्य-कथा को बड़े रोचक ढंग से एक सामूहिक नृत्य द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

'किरातार्जुन' और 'गरुड़वाहन' नामक नृत्य भी ऐसे ही पौराणिक कथाओं से सम्बद्ध हैं। 'गरुड़वाहन' नृत्य में गरुड़ विष्णु के समान ही महत्व और सम्मान प्राप्त करने के लिए युद्ध करते हैं किन्तु अन्त में विष्णु की जय होती है। उनकी अलौकिक शक्तियों के सम्मुख गरुड़ नतमस्तक हो जाते हैं। इन सभी नृत्य-कथाओं की रचनाएँ मानवीय संवेदनाओं पर आधारित हैं और उन्हीं दृश्यों को प्रस्तुत करती हैं जिनमें यह जनसाधारण के भावों का तादात्म्य उपस्थित हो सकता है।

इन नृत्यों के अतिरिक्त इस प्रदेश के भूमिया लोगों का 'करम' नृत्य भी उनका जातीय नृत्य है। उनका विश्वास है कि वे यह नृत्य करके अपने

इष्टदेव शंकर को प्रसन्न करते हैं ताकि उनके वरदान से धरती सबके लिए पेट भर अन्न दे। एकादशी के दिन होने वाले इस धार्मिक नृत्य में वे व्रत रखते हैं। घड़े में बीज रख कर वे उसकी पूजा करते हैं और नृत्य करते हैं। इसी प्रकार का 'मुंदरी' नृत्य भी होता है।

इनके साथ साओरस, गड़वा, चुड, खोड, गोंड, बेधिया कोलों तथा मोरियों के अनेक लोक-नृत्य हैं जो अपनी मूल प्रवृत्तियों में एक-दूसरे से बहुत सीमा तक मिलते-जुलते हैं। इनके लोक-नृत्य में प्रायः उनके दैनिक जीवन की अभिव्यक्तियाँ होती हैं। जैसे प्रणय के युग्म गीत या सामूहिक गीत नृत्य, युद्ध के नृत्य, शिकार के नृत्य तथा वन-जीवन के अनेक पशु-पक्षियों की भाव-भंगिमाएँ इनमें परिलक्षित होती हैं।

प्रणय के नृत्य इन सभी में बहुप्रचलित हैं। स्त्री और पुरुष अपने लिए वर और वधू का चयन भी इन्हीं सामूहिक नृत्यों में करते हैं। प्रायः पूर्णिमा के दिन विभिन्न प्रकार के खाल वाले तथा सींगवाले वाद्य बजाकर युवक-युवतियों को एकत्र कर लिया जाता है और तब वे विभिन्न प्रकार के प्रणयगीत गाकर उल्लासपूर्ण नृत्य करते हैं। इन अवसरों पर नृत्य करने के लिए युवक मण्डली भी विशेष शृंगार करती है। सीप की मालाएँ तथा विभिन्न पक्षियों के पंखे से वे अपने को सजाते हैं।

नील चुनने का नृत्य तथा मयूर-नृत्य विशेष रूप से इस प्रदेश के बाहर प्रख्यात हैं। मोरिया लोगों का विवाह के अवसर पर किया जाने वाला एक अन्य नृत्य भी बाहर प्रदर्शित हुआ है जिसके नामकरण के साथ महिषों के सींग सम्बद्ध हैं। ● ● ●

महाराष्ट्र के नृत्य

●

उत्तर प्रदेश की भाँति महाराष्ट्र प्रदेश भी बहुत समय तक अनेक राजधानियों का केन्द्र रहा है। इस कारण लोक परम्पराओं ने अभिजात्य रूप ग्रहण करने की पूरी चेष्टा की और तथाकथित 'गँवारू' या देहाती प्रभाव को स्पष्टतः निकाल दिया। इस प्रकार महाराष्ट्र के मूल लोक-नृत्य या तो धीरे-धीरे विलुप्त हो गये या किसी अनजाने क्षेत्र में खोये हुए से पड़े रहे। कला का जो भी सहज रूप था उसे क्रमशः शास्त्रीय रूप देने का प्रयत्न किया गया।

जो लोक-नृत्य इस प्रकार बिना किसी मूल्यांकन के अज्ञात-वास में पड़े रहे उनमें गोंड़ों, भीलों और ठाकुरों आदि के विभिन्न नृत्य प्रमुख हैं। सहज

उछाहपूर्ण आन्दोलनों से वे अपने रसमय उत्सव के आनन्द की अभिव्यक्ति करते हैं। 'ढोलाचा नाच' इसी ढंग का उल्लासपूर्ण नृत्य है। इस नृत्य में नर्तक वृत्तों में घूमते हैं और बीच-बीच में 'हो हो हो हो' की तेज पुकार लगाते हैं। सीधे ढंग से खड़े-खड़े नृत्य करके भी लय की क्रमबद्धता बनाये रखना इस नृत्य के नर्तकों की विशेषता है। जिस प्रकार 'ढोल' वाद्य की प्रमुखता, के कारण इस नृत्य का नामकरण 'ढोलाचा नाच' पड़ा उसी प्रकार अन्य नृत्यों का नामकरण भी उन नृत्यों में प्रयुक्त विशेष वाद्यों के कारण हुआ जैसे 'तरणी नृत्य' या 'डिण्डी नृत्य' आदि।

समुद्र-तट पर बसने वाले कोलों का नृत्य 'कोल्याचा नाच' के नाम से प्रचलित है। इस नृत्य में ये मछुवे समुद्र की लहरों से अठखेलियाँ करती हुई नाव के आन्दोलनों की पूर्ण प्रतिच्छाया उतार देते हैं। इस नृत्य में नर्तक दो भागों में बँट जाते हैं। इसका नायक होता है नाविक जिसे नखवी कहते हैं। दूसरा लड़का एक कोलिन स्त्री का अभिनय करता है। वह एक हाथ में रूमाल लकर कमर पर हाथ धर कर अनेक प्रकार की शृंगारिक मुद्राएँ बनाता है और नायक को रिझाने का यत्न करता है। नखवी यानी नायक शराबी का अभिनय करता है और वह अपने एक हाथ में बोतल और एक हाथ में गिलास लेकर झूम-झूम नाचता है। कभी वह स्वयं शराब पीता है और कभी वह उसमें से ढाल कर उस कोलिन को देता है। दो पंक्तियों में बँटे हुए शेष केवल उनके गीतों और उल्लासों पर झूमते हैं। उनके हाथों में छोटी-छोटी पतवारें होती हैं जिन्हें वे इस रूप से चलाते हैं मानों वे सचमुच समुद्र की लहरों से जूझते हुए अपनी नौका खेकर बाहर निकाल रहे हैं। यह नृत्य कोलों के समुद्री जीवन के रासरंग की जीवंत छाया है। नृत्य के साथ ढोलकी और मंजीरें बजते हैं जिससे गीत की लय बनती है।

महाराष्ट्र प्रदेश धार्मिक प्रवृत्तियों का आश्रयदाता रहा है। भगवान पाण्डुरंग के रूप में कृष्ण की अनेक लीलाओं को महाराष्ट्र के संतों ने गाया है। वही लीलाएँ प्रायः धर्मजनित लोकनृत्यों की भावपीठिकाएँ हैं। 'दही कला' या 'कला' अथवा 'हाँडी' नृत्य कृष्ण की दधिदान लीला का रोचक

प्रकरण है। इस नृत्य में नर्तक वृत्तों में लाठियाँ उछालते हैं। 'गोविंद-गोविंद' की रट लगाते हुए वे एक घर से दूसरे घर तक नाचते हुए जाते हैं। कृष्ण का प्रतीक एक बालक सबसे ऊपर चढ़ कर घरों में इसी उद्देश्य के लिए टाँगी हुई हाँड़ियों को लकड़ी से मार कर तोड़ देता है और उसके भीतर रक्खा हुआ दही तथा अन्य सामग्री नर्तकों की अधनंगी देह पर गिरा देता है। हाँडी के इन टूटे हुए टुकड़ों को उपस्थित जनसमूह बड़े उत्साह के साथ एकत्र करता है क्योंकि उनका विश्वास है कि वह मिट्टी का टुकड़ा जिस घर में रहता है वहाँ लक्ष्मी का वास रहता है।

'दशावतार' या 'बोहड़ा' नामक नृत्य नाट्य भी इसी प्रकार का एक धार्मिक लोक नृत्य है जिनमें सूत्रधार सर्वप्रथम गणपति एवं सरस्वती को मंच पर आमंत्रित करता है। फिर उन्हीं के माध्यम से विष्णु के अनेक अवतारों को उन्हीं के 'मेकअप' में मंच पर उतारता है और अवतारों के विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों द्वारा मुद्राएँ बनाई जाती हैं। इनमें वीर रस की भावनाएँ अधिक स्पष्ट रहती हैं। राम और रावण का युद्ध, हरिण्यकश्यपु और नृसिंह अवतार की कथा के अंश इनमें बहुत लोकप्रिय रहते हैं। अभिजात्य प्रभाव के कारण अब दशावतार नृत्य-नाट्य में भी शास्त्रीय संगीत और नृत्य की छाया भी कहीं-कहीं आ रही है किन्तु अपने मूल रूप में यह नृत्य-नाट्य कथाकली के बहुत निकट है।

कृष्ण लीला पर ही आधारित 'राधा नाच' यथेष्ठ लोकप्रिय है। राधा और कृष्ण की प्रणय लीला के पदों पर आधारित यह नृत्य शृंगार की मधुरतम भावों की अभिव्यक्ति करता है। राधा का अभिनय करने वाला किशोर बालक लीला के विभिन्न पदों की अपनी मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्ति करता है। ये पद साथ की मण्डली द्वारा गाये जाते हैं। यह नृत्य होली के आस-पास बहुधा होता है।

'तमाशा' महाराष्ट्र का अत्यन्त आकर्षक एवं लोकप्रिय नृत्य-नाट्य है। पेशवा शासकों के काल में दरबारों तथा सेनाओं के मनोरंजन के लिए 'तमाशा' का प्रचलन बहुत हुआ था। कई प्रकार की कथाओं को 'लावनियों'

के माध्यम से जोड़ कर प्रस्तुत करने वाली यह कला लोक रंजक पक्ष पर बहुत बल देती है। 'तमाशा' नृत्यों का रूप धीरे-धीरे वेश्याओं ने अपना लिया और उन्हीं के परिवार में यह नृत्य-शैली पनपती रही। इनके गीतों में प्रायः अश्लीलता भी होती है और नृत्य प्रदर्शनों में भी वैसे ही कुरुचिपूर्ण हाव-भाव दिखाने का यत्न किया जाता है। इन तत्वों के प्रमुख होने के कारण उनमें पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों को भलीभाँति प्रश्रय मिला। नौटंकी की भाँति 'तमाशा' में वे सभी तत्व अपने मूल रूप में विद्यमान हैं जो किसी कला को सशक्त लोकरंजन का माध्यम बनाते हैं। महाराष्ट्र की सांस्कृतिक जाग्रति में 'तमाशा' के शिल्प को आधार बनाकर उसके द्वारा नई कथावस्तुओं को प्रस्तुत करने की चेष्टा की जा रही है।

महाराष्ट्र के इन प्रमुख लोकनृत्यों के अतिरिक्त अन्य कई छोटे-छोटे नृत्य प्रचलित हैं जिनमें 'फुगड़ी' जैसे नृत्य हैं जिन्हें लड़कियाँ हाथ में हाथ फँसा कर घुमरियाँ करती हुई नाचती हैं। लेज़िम चला कर ड्रिल करते हुए नृत्य करना भी अब स्कूलों के बच्चों में प्रायः देखा जाता है किन्तु ये सब लोक नृत्य की मूल प्रवृत्तियों के अधिक निकट नहीं पड़ते हैं। ● ● ●

लोक-नृत्य

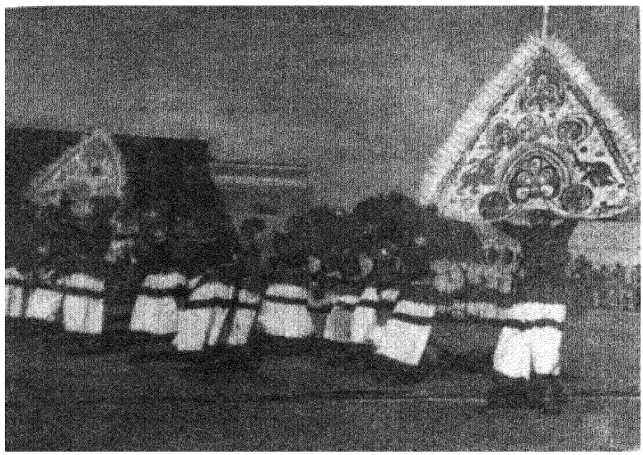

केरल का एक और नृत्य

मध्य प्रदेश के आदिवासियों का लोक नृत्य

लोक-नृत्य

पंजाब का लोक-नृत्य

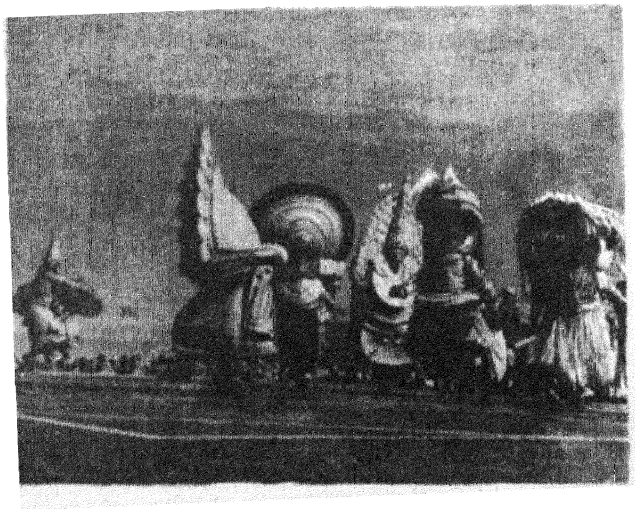

केरल का रंगमय लोक-नृत्य

दक्षिण भारत के लोकप्रिय नृत्य

●

दक्षिण भारत ने भारतीय नृत्य-शास्त्र में कथाकलि और भरत-नाट्यम का जो योगदान किया है, वह नृत्य-कला को गौरवपूर्ण स्थान दिलाने में समर्थ हुआ है। किन्तु इन शास्त्रीय नृत्यों के अतिरिक्त भी दक्षिण भारत में ऐसे अनेक जनप्रिय नृत्य एवं नृत्य-नाट्यम हैं जिनके उल्लेख के बिना दक्षिण की नृत्य परम्परा को ग्रहण करना कठिन है। वस्तुतः उपरोक्त नृत्यों को शास्त्रीय की संज्ञा से विभूषित कराने में इन लोक-नृत्यों की पृष्ठभूमि सबल रूप से कार्य कर रही थी।

इन लोक-नृत्यों में अनेक ऐसे हैं जिनकी मूल संवेदना और प्रेरणाएँ ठीक वैसी ही हैं जैसी उत्तर भारत के लोकनृत्यों की दीख पड़ती हैं। रोचक पौराणिक कथाओं पर आधारित देश के कृषकजीवन की अभिव्यक्ति मुखरित करने वाले, जन-जन में प्रचलित प्रेमगाथाओं का वर्णन करने वाले इन सभी नृत्यों के मूल स्रोत देश की वही मिट्टी रही है जो इन विभिन्न बोलियों वाले लोगों को सदा से एकसूत्रता में बाँधती रही है।

'कोलाट्टम' इन सभी नृत्यों में बहुप्रचलित लोकनृत्य है। इस नृत्य को दक्षिण के विभिन्न भागों में कई नामों से सम्बोधित किया जाता है। केरल और तमिलनाद में यह नृत्य बहुधा ग्रामीणों एवं नीची जाति के लोगों द्वारा किया जाता है। अपने श्रम की थकान को दूर करने अथवा विशेष पर्वों या उत्सवों को उछाह से मनाने के लिए यह नृत्य किया जाता है। यह नृत्य भी लकड़ियाँ बजाकर करते हैं। हर नर्तक के हाथ में दो छोटी-छोटी लकड़ियाँ होती हैं। वृत्ताकार घेरे में घूमता हुआ वह बार-बार इन लकड़ियों को बजा-बजा कर नाचता है। इन लकड़ियों को नर्तक स्वयं अपने हाथ की दूसरी लकड़ी से चोट करता है और कभी-कभी वह अपने नट-कौशल दिखाता हुआ एक बार लकड़ी की चोट छोड़ देता है और फिर दुबारा उसे पकड़ लेता है। इन नृत्यों में नर्तक कभी-कभी पैरों में घुँघरू भी बाँधते हैं। ज्यों-ज्यों नृत्य की गति बढ़ती जाती है नर्तकों द्वारा इन लकड़ियों की चोट भी बराबर बढ़ती जाती है।

'कुम्मी' नृत्य प्रायः केवल स्त्रियों द्वारा ही किया जाता है। इस नृत्य में नारियाँ वृत्त में घूम-घूम कर कृषक जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करने वाली गीत गाती हैं। उनकी मुद्राएँ और अंग-संचालन खेतों में काम करने वाली अनेक गतिविधियों की परिचायक होती हैं। ये स्त्रियाँ अपने बीच से एक नेत्री चुन लेती है जो गीत की पहली पंक्ति उठाती है। उसके पश्चात् वही गीत दूसरी स्त्रियों द्वाया गाया जाता है। यह क्रम एक के बाद दूसरी स्त्री द्वारा चलाया जाता है।

'कइकोट्टिकालि' नृत्य समुद्रतट पर बसने वाले मछुओं का अत्यन्त प्रचलित

लोक-नृत्य है। नव वर्ष—'ओनम' के स्वागत में वे इस नृत्य का प्रायः प्रदर्शन करते हैं। भाँति-भाँति की अल्पनाओं से घर आँगन सँवार कर कइकोट्टिकाली नृत्य किया जाता है। नया वर्ष उनके लिए नई फसल लायेगा, उनके लिए समृद्धि और सुखसुविधा से भरपूर नया जीवन लायेगा, इसी मनोभाव को भिन्न ढंग से अभिव्यक्त करते हुए वे झूम-झूम कर गाते और नाचते हैं। इन नृत्यों से ही सम्बद्ध उनकी नौकादौड़ होती है जिसमें वे बड़ी-बड़ी नौकाओं में बैठ कर इस होड़ में भाग लेते हैं।

समुद्रमंथन के समय में जिस प्रकार विष्णु ने मोहिनी का रूप धारण करके अमृत का वितरण किया था, वह दक्षिण के लोक-नृत्य 'मोहिनी-अत्तम' में मुखरित हुआ है। यह नृत्य प्रायः स्त्रियों द्वारा ही किया जाता रहा है। गीत गोविंद भी 'मोहिनी अत्तम' नृत्य में सुना जा सकता है। संयोग-वियोग के विभिन्न स्तरों को नृत्य के मनोभावों में ढाल कर उतारने की चेष्टा की जाती रही है। वस्तुतः यह नृत्य एक प्रकार से खो गया था और वेश्याओं के हाथ में चला गया था किन्तु केरल कला मण्डलम् में कवि वल्लातोल के प्रयत्न से इसका पुनरुद्धार हुआ और अब पुनः मोहिनी-अत्तम को पढ़ी-लिखी युवतियाँ कला के रूप में स्वीकृत कर रही हैं। जनश्रुति है कि इस नृत्य का प्रारम्भ त्रावणकोर के किसी राजा ने किया था। किन्तु इसका कहीं न तो विशिष्ट प्रमाण है और न उल्लेख ही मिलता है।

यक्षगान और ओथुनथुल्लाल दक्षिण भारत के दो अन्य लीला-नृत्य हैं जिनके माध्यम से विभिन्न कथाओं का प्रदर्शन होता रहा है। इसका विस्तृत विवरण अन्यत्र किया जा रहा है।

'कुरुवंची' नामक तमिलनाद का नृत्य किसी सीमा तक 'भरतनाट्यम' का आदि रूप कहा जा सकता है क्योंकि इसकी सभी मुद्राएँ और अंग-संचालन 'भरतनाट्यम्' जैसी ही होती है। 'कुरती' नामक पहाड़ी स्त्रियों द्वारा यह नृत्य प्रायः किया जाता है। यह पहाड़ी जाति खानाबदोश लोगों की तरह प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान बराबर घूमा करती हैं और उनकी स्त्रियाँ यह नृत्य करती हैं। ये लोग जिप्सियों की तरह कुछ विचित्र वस्तुओं का संग्रह

करके उन्हें बेचते हैं और हाथ देख कर भविष्य बताते रहते हैं। इस जाति की युवतियाँ सुन्दरी होती हैं किन्तु वे उनका रूप ऐसा विकृत करके रखते हैं कि उन पर कोई भी आकृष्ट न हो सके। उनका यह विश्वास है कि जो सुन्दर दीख पड़ता है उस पर देवताओं की 'नज़र' लग जाती है और वे उसे शीघ्र ही इस धरती से उठा कर अपने पास बुला लेते हैं। कुछ पैसा पाते ही यह लोग कुरुपंजी नृत्य प्रदर्शित करने लगते हैं। इनके गीतों में घुमंत जीवन की सुख-दुख गाथाएँ तथा भविष्य जानने वाले राजकुमारों और राजकुमारियों की प्रेम कथाएँ वर्णित रहती हैं। यह नृत्य आकर्षक होते हैं। दक्षिण भारत में इस लोकप्रिय नृत्य को सँवार कर नये रूप में प्रदर्शित करने का यत्न किया जा रहा है और उसे एक सबल माध्यम के रूप में स्वीकारा जा रहा है। भरत-नाट्यम् से मिलता-जुलता होने पर भी कुरुवंजी की नृत्य-संयोजना अत्यन्त सरल, सहज और रोचक है।

इन नृत्यों के अतिरिक्त अन्य बहुत से ऐसे नृत्य हैं जिनमें वीरतापूर्ण गाथाएँ और शृंगारिक तथा धार्मिक भावनाएँ परिलक्षित होती हैं। मलाबार में 'पुलयन' नामक जाति का एक विशिष्ट धार्मिक नृत्य है जो देवी-देवताओं के आवाहन के समय किया जाता है। नाचते-नाचते वे अपनी इष्ट देवी या देवता को रिझाने का यत्न करते हैं और फिर भावावेश में उनकी ऐसी स्थिति हो जाती है कि वे समझने लगते हैं कि अमुक देवी या देवता स्वयं उनके भीतर ही जा बैठा है। वह नर्तक उपस्थित समुदाय के लिए पूज्य हो जाता है और सब श्रद्धा से उसको माथा नवाते हैं। इस अवसर पर ढोल और नगाड़ों का तुमुल कोलाहल किया जाता है। कोलाहल के भीतर-भीतर एक तालबद्धता बनी रहती है जिसके सहारे मुख्य नर्तक और उसके सहयोगी नर्तक बराबर नृत्य करते रहते हैं। इस प्रकार के तथाकथित धार्मिक अंधविश्वासों पर आधारित अनेक नृत्य उत्तर भारत में बड़ी सरलता से देखे जाते हैं।

दक्षिण भारत के सभी लोक-नृत्य धीरे-धीरे विलुप्त होते जा रहे थे क्योंकि वहाँ का शिक्षित वर्ग इनको अपने गौरव के अनुरूप नहीं समझता था और उन्हें अपने सँवार होने का एक मूलभूत प्रमाण समझ कर चाहता था कि

शीघ्रातिशीघ्र कला के ये रूप हट जायँ ताकि उसे किसी प्रकार की हीन-भावना से पीड़ा न पहुँचे। किन्तु अब इस प्रकार की भ्रामक धारणा लोगों के मन से हट रही है और वे उसके सौन्दर्य से परिचय प्राप्त करने की चेष्टा करने लग गये हैं। ● ● ●

गुजराती गरबा तथा अन्य नृत्य

गुजराती गरबा भारत के प्रमुख राष्ट्रीय नृत्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। गुजरात की लोककथाओं का प्रतिनिधित्व करने में भी यही नृत्य सर्वमान्य है। गुजराती गरबा नृत्य का प्रारम्भ प्रायः नवरात्रि से होता है जब नौ दिनों तक निरन्तर गुजराती महिलाएँ गरबा गीतों और नृत्यों से सारे गुजरात को एक बार रससिक्त कर देती हैं। वैसे ये नृत्य चैत्र तक समाप्त हो जाते हैं। किन्तु आजकल तो मौसम बेमौसम यह नृत्य होता ही रहता है।

गरबा नृत्यों की विशेष परम्परा गुजरात में बनने का एक कारण था 'जल की समस्या'। अभाव ने गुजरात में जल को लोकगीतों और लोकनृत्यों में महत्वपूर्ण स्थान दिलाया। गरबी यानी पानी भरने वाली गगरी को गुजराती महिलाएँ रंगचुन कर अपने-अपने घरों में सजा कर रखती हैं, उसमें दीपक

जला कर उजाला करती हैं और उसका पूजा करती हैं। फिर वे छोटी-छोटी सजी हुई गगरियों को अपने सिरों पर रख कर टोलियों में एक घर से दूसरे घर जाती हैं। इस समय वे नाच-नाच कर गरबा गीत गाती हैं। मुहल्ले टोले में इसी तरह यह नृत्य टोली घूमती रहती है। सबके घरों के सामने जाकर वे गीत गाती हैं। घर की मालकिन उस गीत की कड़ियों में अपना भी योग देती हैं। फिर सब मिल कर वृत्तों में घूम कर नाचती हैं। गीत और नृत्य सम्पूर्ण हो जाने पर गृहस्वामिनी आतिथ्य सत्कार करती है। टोली का मुँह मीठा कराती है। इस प्रकार टोलियों के नृत्य का क्रम आगे बढ़ता जाता है।

इन नृत्यों में अंग-संचालन अत्यन्त सौम्य एवं मधुर होता है। महिलाएँ समूह में अपने शरीर को एक साथ एक ओर झुकाती हैं और फिर दूसरी ओर मोड़ती हैं। कदम मिलाती हुई जब वे एक साथ गीतों के आरोहों-अवरोहों को अपनी लय में बाँध कर नाचती हैं तो एक विचित्र आनन्द की सृष्टि होती है। गरबा गीत में पहिली कड़ी नृत्य की नेत्री गाती है, शेष मण्डली उसके गीत को दुहराती है। प्रायः इन गीतों में शृंगार की भावनाएँ निहित रहती हैं जिनमें मासों का प्रकृति वर्णन करते हुए वे कहती हैं—ओ प्रियतम! तुम कार्तिक मास में विदेश जा रहे हो—मैं तुम्हारे बिना कैसे रहूँगी—और फिर शीतकाल भी आ आयगा पर तुम नहीं आओगे—और इसी तरह मास पर मास बीतते जायेंगे! गरबा के गीतों की मूल संवेदना कुछ-कुछ उत्तर प्रदेश में प्रचलित चौमासा और बारहमासा जैसे गीतों की ही है जिनमें प्रियतम के वियोग की चर्चा इसी प्रकार की जाती रही है।

सौराष्ट्र लीलामय कृष्ण की राजधानी रहा है अतः कृष्ण की रसमयी लीलाएँ उस प्रदेश की प्रेरणास्रोत रही हैं। अनेक लोकगीतों में कृष्ण की ये लीलाएँ उसी रूप से वर्णित हैं जैसी वृन्दावन के कृष्ण की मिलती हैं। रास-लीला एवं कृष्ण-लीला पर आधारित अनेक लोक-नृत्य गुजरात में प्रचलित हैं। 'डांडिया रास' इसी प्रकार का नृत्य है। वस्तुतः यह नृत्य भी गरबा नृत्यों के ढंग पर प्रदर्शित होता है। गुजराती स्त्रियाँ और पुरुष छोटी-छोटी लकड़ियों

को लेकर घूमते हुए वृत्तों में नाचते हैं। वे इन लकड़ियों को इस प्रकार घुमाकर चलाते हैं कि उससे ताल की क्रमबद्धता बँध जाती है। इन छोटी-छोटी लकड़ियों को सुन्दर बनाने के लिए वे विभिन्न रंगों में उनको रंग देते हैं और उनके सिरों पर घुघरू लगा देते हैं जो नृत्य के समय बजते रहते हैं।

गरबा नृत्य भी कृष्ण-कथा की परम्परा से जुड़ा हुआ है। कहते हैं कि कृष्ण की पुत्रवधू 'उषा' ने गरबा नृत्य का प्रचार गुजरात में किया था। नृत्य-कला-निपुण उषा ने 'लस्य नृत्य' की महत्ता बताने के लिए ही इसे गुजरात के नर-नारियों को सिखाया। इस प्रकार नटवर कृष्ण ने 'रास-लीला' नृत्य गुजरात में प्रचलित किया और उनकी पुत्रवधू उषा ने गरबा।

गुजरात के ये नृत्य बहुधा उच्च कुल के संभ्रान्त परिवारों द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं। किन्तु वहाँ की कोल-स्त्रियों का 'तिप्पनो' नृत्य छोटी जाति के कामकरों का अपना विशिष्ट नृत्य है। फर्श बनाने के लिए उसे कूट कर बराबर करने के लिए जो श्रमिक स्त्रियाँ काम करती थीं वे अपनी मेहनत को हल्का करने के लिए फर्श कूटने वाले 'दुरमुस' को वे एक साथ एक लय में चलाती हैं और गीत गाती हैं। इसी 'दुरमुस' को वे 'तिप्पनी' कहती हैं और इसी पर इस नृत्य का नामकरण हुआ है। इस 'दुरमुस' के ऊपरी सिरों पर अक्सर घुंघुरुओं की लच्छियाँ बँधी रहती हैं जो गीत के साथ नृत्य में बड़ा रस उत्पन्न कर देती हैं। वस्तुतः यह नृत्य विकसित होकर एक विशिष्ट नृत्य-शैली बन गया है और कोल स्त्रियाँ इस नृत्य को प्रायः करती रहती हैं। इसके लिए अब सचमुच फर्श कूटने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अपने शारीरिक आन्दोलनों द्वारा वे छोटे-छोटे लकड़ी के दुरमुसों को लेकर काल्पनिक फर्श को कूटती हुई नृत्य करती हैं और अपने गीत गाती हैं। यह नृत्य अपने ढंग का एक ही होता है।

गुजरात के लोकनृत्यों में लोकतत्वों की प्रधानता भलीभांति दीख पड़ती है किन्तु इधर बम्बइया फिल्मों के प्रभाव ने तथा हर सांस्कृतिक जलसों के अवसर पर लोक-नृत्यों की प्रदर्शिनी की माँगों ने इन लोक-नृत्यों पर अपना दूषित प्रभाव छोड़ना प्रारम्भ कर दिया है। गरबा के छद्मवेश में अनेक बार ये ठग आते हैं। उनसे बचने के लिए सतर्कता वांछनीय है। ० ● ●

पंचनद के लोक-नृत्य

●

पंजाब की धरती पर सोनेकी बालियों से भरीपुरी जैसे गेहूँ की फसल लहराती है ठीक उसी तरह पंजाब के लोक-नृत्य होते हैं—उतने ही रसमय, ओजपूर्ण एवं स्फूर्तिदायक ! चरम उत्साह के क्षणों को मूर्त करने वाले ये लोक-नृत्य आगत फसलों के स्वागत में हर गाँव में देखे जा सकते हैं। इस धरती के निवासी अपनी प्रत्येक गति में एक स्फूर्ति का अनुभव करते हैं। उनकी यह ताज़गी उनकी दैनिक कार्यविधि, उत्सवों एवं रसमय पर्वों में समान रूप से परिलक्षित होती है। पंजाबियों के कठोरतम् जीवन-चर्या के बीच इस प्रकार की कोमलतम भावनाओं वाले गीतों और उन पर चलने वाले सामूहिक नृत्य भी सम्भव हो सकते हैं, इसकी सहज कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

भांगड़ा—पंजाब के बहुचर्चित एवं लोकप्रिय नृत्यों में सबसे प्रमुख है। रंगबिरंगी पगड़ियाँ और लुंगियाँ बाँधे, चमकते हुये रेशमी कुरतों पर सफेद बटनों वाली चमचमाती वास्कट पहिने हुये, घुँघरुओं की झन्कार के साथ पंजाबी युवक जब अपने सम्पूर्ण उत्साह के साथ भांगड़ा-नृत्य में योग देता है तो वह बरबस मुर्दा-आत्माओं में भी एक बार नये उत्साह के सूखे स्रोत को जगा देता है। यह भांगड़ा-नृत्य वैसे तो सभी महत्वपूर्ण उत्सवों और पर्वों पर विशेष रूप से प्रदर्शित होता है किन्तु इसका प्रारम्भ गेहूँ की बुवाई से होता है। दूर-दूर तक फैली चाँदनी के बीच जब भांगड़ा-नृत्य के लिए ढोल बजा कर युवकों को आमंत्रित किया जाता है तो वे यूथों में एकत्र होने लगते हैं। ढोल बजाने वाले के समीप नृत्यकार जुट जाते हैं। वृत्त में घूम-घूम कर वे अपना नृत्य 'हो, हो' करके अपने हाथ की लाठियाँ उछाल कर तालियाँ बजा-बजा कर वे भांगड़ा प्रारम्भ कर देते हैं। इस नृत्य के बीच में भी लोग आते रहते हैं और बिना नृत्य की रागात्मक आवृत्ति को भंग किए हुए वे भी उसी में योग देने लगते हैं। 'बाले बाले, ओहे बाले बाले' की धुन से सारा वातावरण गूँजने लगता है। इस नृत्य के नेता वृत्त के बीच में ढोलकिया के पास खड़े हो जाते हैं। ये नृत्य-नेता विशिष्ट नर्तक नहीं होते परन्तु फिर भी वे अपने शारीरिक आन्दोलनों को दूसरों की अपेक्षा अधिक रोचक ढंग से चलाते हैं अतः उनके इस गुण विशेष के कारण वे नेता मान लिए जाते हैं। आवृत्तियों को बीच में रोक कर ये नेता-नर्तक अपने कानों पर हाथ रख कर ऊँचे स्वरों में पंजाबी लोकगीतों के टुकड़े गाते हैं जिन्हें 'बोली' या 'ढोला' कहा जाता है। इन टुकड़ों के समाप्त होते ही फिर उसी आवृत्तिमय ढंग से नृत्य प्रारम्भ हो जाता है। भांगड़ा नृत्यों का यह क्रम बैसाखी तक प्रायः धूम से चलता रहता है। अपनी गरिमामयी पौरुषयुक्त नृत्य शैली के लिए भांगड़ा सदा ही आकर्षण केन्द्र बना रहता है।

पुरुषों का जैसे भांगड़ा-नृत्य है, ठीक उसी तरह 'गिद्धा' स्त्रियों का सामूहिक नृत्य है। 'गिद्धा-नृत्य' पंजाबी ग्रामीण स्त्रियों का विशिष्ट आकर्षण होता है। गीत गाकर वे वृत्तों में घूमती हैं। एक-दूसरे के हाथ पकड़ कर वे तेजी

से घुमरियाँ लेती हैं। इस प्रकार यदि 'गिद्धा-नृत्य' को ऊपर से देखा जाय तो लगता है कि नृत्य करते हुए एक बड़े शतदल की अनेक पंखुरियाँ तेजी से थिरक रही हैं। उनके चमकते हुये दुपट्टों और शलवारों की चकाचौंध एक विचित्र-सा वातावरण रचती हैं। गिद्धा-नृत्य में भाग लेने वाली स्त्रियाँ तालियों से उस गीत की गति को बराबर बनाये रखती हैं। यह गतिमयता उनके जीवन का गति की प्रतिच्छाया है।

कुलू की पहाड़ी घाटी भी पंजाब का अत्यन्त मनोरम भाग है। उस घाटी को गंधर्वों किन्नरों की घाटी कहा जाता रहा है। इसका कारण उस क्षेत्र का संगीत और नृत्य ही है। इस क्षेत्र के निवासी अपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिए ही नृत्य करते हैं। उनका विश्वास है कि यदि उनके इष्ट देवता, घाटी के देवता रघुनाथ सब पर प्रसन्न रहें तो उनकी फसलें अच्छी होंगी, उनकी समृद्धि होगी और वे वर्ष भर सुखी रहेंगे। रघुनाथ को प्रसन्न करने के लिए अपने समस्त कार्यों को छोड़ कर, अपने धर्म की रक्षा के लिए कुलू के पुरुष और स्त्री मिल कर सामूहिक नृत्य करते हैं। उनके ये नृत्य-पर्व ज्येष्ठ मास से लेकर क्वार कार्तिक तक चलते रहते हैं। फसलों की तैयारी के साथ-साथ ये सामूहिक नृत्य उनके उत्साह के पूर्ण परिचायक होते हैं। इन अवसरों पर वे मंदिरों में अपने देवताओं की यात्रा करते हैं। देवताओं को वे बाहर गाँव के हरे-भरे मैदान में खुले आकाश के नीचे लगाते ह। वहाँ लोक-नर्तक और संगीतज्ञ एकत्र होते हैं और समूहों में नृत्य करके अपने देवताओं को रिझाते हैं। जब एक समूह थक जाता है तो दूसरा समूह उनका स्थान ले लेता है और इस प्रकार नृत्य चलता रहता है। प्रायः गाँव से महिलाएँ एकत्र होती हैं और वे पुरुषों के साथ ही नृत्य करती है किन्तु कहीं-कहीं स्त्रियाँ अपना दल अलग बनाकर वृत्तों में नृत्य करती हैं और देवताओं की आरती उतारती हैं।

कुलू में दशहरे के अवसर पर सबसे बड़ा उत्सव होता है जब छोटे-छोटे मन्दिरों के अनेक देवता—परमात्मा रघुनाथ की सेवा के लिए अपने-अपने मंदिरों से निकाल कर विशिष्ट स्थान पर लाये जाते हे। तीन रात और तीन दिन तक ये उत्सव लोक-नृत्यों और लोकगीतों की झनकारों से गूँजता रहता है। कुलू

के ये धर्मभीरु निवासी तब तक नृत्य करते ही रहते हैं जब तक वे थक कर अपने उन देवताओं के आश्रय के नीचे सो नहीं जाते। केवल नींद ही उनके पैरों की मुखरता रोक पाती है। इन्द्रधनुषी परिधानों में लिपटी ये किन्नरियाँ स्वर्गिक आनन्द की अभिव्यक्ति अपने इन लोक-नृत्यों से करती हैं। इनके लोक-नृत्यों की मौलिकता अपनी सम्पूर्णता में सुरक्षित है, यह वस्तुतः द्रष्टव्य है। ● ● ●

कचिपुडी–दक्षिण का वैष्णव-नृत्य

●

आंध्रप्रदेश के कचिपुडी या कुचिलीपुरम नामक ग्राम के कुछ ब्राह्मण परिवारों ने जिस विशिष्ट ढंग से इस वैष्णव नृत्य को संजोये रक्खा है वह अपने में एक महत्वपूर्ण शैली बन गयी है। इसे मूल रूप में 'भागवतुलू' के ही अंतर्गत माना जाता रहा है जिसके माध्यम से भागवतपुराण की रोचक भक्ति-कथाएँ प्रस्तुत की जाती रही हैं। भक्ति-क्षेत्र में यह नृत्य नाट्य इसी हेतु विशिष्ट लोकप्रिय हुआ। विजयनगर राज्य के नरेशों ने भी इस नृत्यशैली को अच्छा प्रश्रय दिया और इसको प्रोत्साहित किया। तंजोर प्रदेश में भी कचिपुडी को महत्वपूर्ण स्थान मिला। संतों के पदों का अभिनय कचिपुडी के कलाकारों के प्रदर्शन को अत्यन्त आकर्षक बनाता है।

इस नृत्य-नाट्य में प्रायः कई कलाकार भाग लेते हैं और रसों के विभिन्न रूप अपनी मुद्राओं और अभिनयों से प्रस्तुत करते हैं। कुशल नर्तक विशिष्ट रसों का सफल प्रदर्शन करते हैं। शृंगार में वियोग की भावना—जो वैष्णवी भक्तिधारा का प्रमुख अंग रही है—इन नर्तकों के लिए अत्यधिक ग्राह्य होता है। इस प्रकार ये कलाकार एक ही रसभाव को अनेक रूपों में प्रदर्शित करके, अपने भावाभिनय से कला के अछूते स्तरों को उतारने की सजग चेष्टाएँ करते हैं। इस प्रकार के कार्यक्रम में कृष्ण से अलौकिक एवं स्वर्गिक पुष्प पारिजात लाने का आग्रह करने वाली कथा पर आधारित 'भामाकल्पम' या 'पारिजातम्' अत्यन्त लोकप्रिय है। पदों में नायक एवं नायिकाओं के शृंगारिक भावों के अनेकानेक मनोवैज्ञानिक रूप इन नृत्यों के माध्यम से सफलतापूर्वक प्रदर्शित किये जाते हैं। 'भामा कल्पम्' के लेखक सिद्धेन्द्र योगी ने कुछ ब्राह्मण युवकों को उस रचना को नृत्य द्वारा प्रदर्शित करने के लिए दीक्षित किया। उन्होंने उस ग्राम के ब्राह्मण परिवारों को अपने प्रभाव से यह शपथ दिलवाई कि उनके परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में कम से कम एक बार तो अवश्य ही 'सत्यभामा' का रूप धारण करके यह नृत्य करेगा। सिद्धेन्द्र योगी के ही प्रभाव के कारण कहा जाता है कि गोलकुंडा के नवाब ने कचिपुडी नामक गाँव उन लोगों को दे दिया था जो इस विशेष कला को विकसित करने में लगे हुये थे।

'भामा-कल्पम' ने कचिपुडी की नृत्य शैली को अपने ढंग से एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करने में सहायता दी। सिद्धेन्द्र योगी के पश्चात् तीर्थनारायण यती ने 'कृष्ण लीला तरंगिनी' नामक काव्य की रचना की। इस काव्य के शब्द नृत्य का भी संकेत करते थे। उत्तर भारत के कृष्ण काव्य में लीला वर्णन करने वाले भक्त कवियों ने जिस प्रकार अपने पदों में नृत्य लीलाओं का उल्लेख

किया है और जिस प्रकार वे नृत्य की भाव-विह्वलता की अभिव्यक्ति करते हैं उसके समानान्तर भावों को दक्षिण की इस वैष्णवी नृत्य शैली में भी प्रायः देखा जा सकता है। कृष्ण लीला तरंगिनी के अंशों को जब 'कचिपुडी' नर्तकों

ने स्वीकृत कर लिया तो उनकी कला में 'नृत्त' अंश दृढ़तर हुआ। इस प्रकार 'अभिनय' एवं 'नृत्य' अंश से भरपूर होकर इस शैली ने नये रंग अपनाये। जयदेव की अष्टपदी भी इन नृत्यों में रोचकता लाने के लिए अच्छी माध्यम बनी।

कचिपुडी शैली में क्रमशः इसी प्रकार की रचनाएँ जुड़ती रहीं। गोल्लाकल्पम् नामक नृत्य संयोजना में एक ग्वालिन तथा एक ब्राह्मण का संलाप दिखाया गया है जिसमें दर्शन तथा भक्ति के अनेक तत्वों को उभारने की चेष्टा की गई है। इसी से मिलता-जुलता प्रकरण उत्तर भारत की कृष्ण लीला में गोपिकाओं और उद्धव का संवाद है।

नृत्य की इस शैली को महत्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित कराने में चिन्ता व्यंकटारमैइया एवं वैम्पाती व्यंकट नारायण शास्त्री का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य कई कलाकार आज भी कचिपुडी की शैली से ही कलात्मक अभिव्यक्ति करने का यत्न कर रहे हैं। उपरोक्त नृत्य रचनाओं के अतिरिक्त 'दशावतार-नृत्य' भी एक लोकप्रिय वैष्णवनृत्य है जिसमें विष्णु के दश अवतारों की भक्तिमयी लीला दिखाई जाती है।

कचिपुडी वैसे तो अत्यन्त सीमित क्षेत्र का नृत्य है किन्तु वस्तुतः वह अपनी शैली की मोहकता के कारण अनेक नृत्यकारों को बहुधा आकर्षित करता रहा है। भरत-नाट्यम को कलाकारों के लिए 'कचिपुडी' की बहुत सी मुद्राएँ एवं भावाभिनय हृदयग्राही सिद्ध हुए हैं, और कभी प्रत्यक्ष और कभी अप्रत्यक्ष ढंग से उनकी कला पर अपना प्रभाव डालते रहे हैं। ● ● ●

बंगाल के थिरकते पाँव

●

कला के क्षेत्र में बंगाल का सदा अद्वितीय स्थान रहा है। किन्तु कला के अभिजात्य संस्कारों एवं तज्जनित परिभाषाओं ने कला के क्षेत्र से लोक-कलाओं विशेष रूप से लोक-नृत्यों का बहिष्कार-सा कर दिया था। परिणाम यह हुआ कि बंगाल के शिष्ट-कलाप्रिय समुदाय में वहाँ के लोक-नृत्यों का न तो विशेष मूल्यांकन ही हुआ और न परम्परागत नृत्यों की मूल अनुभूतियों की ओर ही किसी का ध्यान गया।

बंगाल के लोक-नृत्यों के पुनर्मूल्यांकन एवं प्रतिष्ठा प्राप्त कराने में गुरु जी० एस० दत्त का अत्यन्त सक्रिय योग रहा जिन्होंने व्रताचारी आंदोलन का सूत्रपात करके बंगाल के युवकों में लोक-नृत्यों के प्रति नूतन अनुराग जाग्रत

किया। उन्होंने इन लोकनृत्यों से ग्रामीण वातावरण में एक क्रियात्मक क्रान्ति करने की योजना बनाई। व्रताचारी आन्दोलन में भाग लेने वालों का यह पूर्ण विश्वास था कि जीवन को विभिन्न टुकड़ों में बाँट-बाँट कर रस नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसके लिए जीवन के रस-तत्व को—आनन्द तत्व को—अधिक सक्रिय बनाना होगा ताकि उस आनन्द तत्व के माध्यम से नई सृजन प्रतिभा जाग्रत हो सके। भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के साहचर्य पर यह आन्दोलन बल देता था। किसी भी व्रताचारी के दो मुख्य कार्य होते थे—एक तो कृत्य और दूसरा नृत्य। नृत्य के द्वारा ही चरम सुख की प्राप्ति सम्भव है, ऐसी उनके आन्दोलन की आस्था थी। व्रताचारी को स्काउटों की तरह पाँच व्रत लेने पड़ते थे जो उनके मूलाधार सिद्धान्त थे—ज्ञान, श्रम, सत्य, एकता और सुख। इन्हीं मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित उन्होंने कई नृत्यों की भी संयोजनाएँ की हैं जैसे 'बंगालार जैइ' (बंगाल की जै) या 'नारीर मुक्ति' (नारी की मुक्ति) आदि। रायबेशी जैसे लोक-नृत्यों के प्रचार में भी व्रताचारी आन्दोलन ने अच्छा योग दिया। यद्यपि नृत्य-कला के क्षेत्र में व्रताचारी आन्दोलन की विशेष देन नहीं समझी जाती किन्तु फिर भी लोक-नृत्यों की ओर शिक्षित जन समुदाय का ध्यान आकर्षित करने के लिए उनका कार्य सराहनीय है। अपने पूरे दल के साथ गाँव-गाँव में घूम कर व्रताचारियों ने जिस प्रकार नई चेतना जगाई और सब को उन लोक-नृत्यों की नई उपयोगिता बताई, वह बंगाल की लोक-कलाओं के पुनरुत्थान में सदा अविस्मरणीय रहेगा।

बंगाल के सशक्त एवं पौरुषयुक्त नृत्यों में 'रायबेशी' का नाम सबसे पहिले लिया जाता है। यह नृत्य बीरभूमि, बर्दवान और मुर्शिदाबाद के जिलों में अधिकतर डोमों, अछूतों एवं परिगणित जातियों में प्रचलित है। इस नृत्य का मूल रूप बीरभूमि में ही दिखायी पड़ता है। अन्य भागों से इस नृत्य में काफी संशोधन हो चुके हैं। ढोल और बंसी बजा कर नर्तकों का समुदाय ओज एवं उत्साहपूर्ण वातावरण की सृष्टि कर देता है। इस नृत्य में कहीं भी स्त्री सुलभ भाव-भंगिमाएँ व्यक्त नहीं होतीं। यह नृत्य वृत्तों में किया जाता है। नर्तक अपने दाहिने पाँव में घुँघरू पहिनते हैं। ढोल-वादन की गति पर

वे अपने समस्त उत्साह के साथ कूद-कूद कर नृत्य करते हैं। अपने अंग-संचालनों से वे विभिन्न प्रकार की युद्ध-मुद्राएँ प्रदर्शित करते हैं—कभी भाले फेंकने की मुद्राएँ, कभी असि-युद्ध और धनुष-तीर चलाने की अभिव्यक्तियाँ नृत्यों में उनकी अपरिमेय पौरुषता, तथा वीरता की सहज भावना दृष्टिगोचर होती है। इस नृत्य के समय युद्ध-कौशल की अनेक गतिविधियाँ परिलक्षित होती हैं।

इसी प्रकार 'काठी नृत्य' भी बंगाल की पिछड़ी हुई जाति के लोगों का नृत्य है। अधिकतर बाउरी लोग इस नृत्य को करते हैं। मदल नामक वाद्य बजाकर वे भी वृत्तों में ही नाचते हैं। काठी नृत्य के ये नर्तक हाथ में लकड़ियाँ लेकर नाचते हैं। एक लकड़ी से दूसरी लकड़ी पर ताल के साथ चोट करते हुए वे घूम-घूम कर नृत्य करते हैं। ये नर्तक अपनी नृत्य संयोजनाओं में कई कोणों से इन लकड़ियों की तालबद्ध चोटों का प्रदर्शन करते हैं। कभी स्वयं अपनी लकड़ी पर चोट लगा कर, कभी अपने सहनर्तक की लकड़ी पर चोट लगाकर वे गतिमयता की वृद्धि करते रहते हैं। ये नर्तक नट-कौशल में बड़े प्रवीण होते हैं। विभिन्न ढंग से उछल-कूद कर और कभी-कभी तो एकदम लेट कर भी वे ताल पर अपने शरीर को परिचालित करते हैं तथा उन लकड़ियों द्वारा उस गति को अक्षुण्ण रखते हैं। शारीरिक गतियों की यह विभिन्नता ही उस नृत्य की रोचकता सिद्ध करती है। इस प्रकार लकड़ियाँ बजा कर नृत्य करने की लोक परम्परा दूसरे क्षेत्रों के नृत्यों में भी सहज ही देखी जा सकती है। रासलीला के नृत्य, गारबा का एक रूप तथा दक्षिण भारत का कोलि-कोलाट्टम नृत्य भी लकड़ियों के द्वारा संचालित होता है। शृंगारिक भावनाएँ भी इसी ओजपूर्ण नृत्य शैली से प्रस्तुत की जाती रही हैं।

इन नृत्यों के अतिरिक्त बंगाल के 'ढाली और बाउल' नृत्य भी यथेष्ट लोकप्रिय हैं। ढाली इसी ढंग का एक ओजपूर्ण वीरता प्रदर्शित करने वाला लोक-नृत्य है किन्तु 'बाउल' निरगुन भक्त सम्प्रदाय का गीत है। बाउल गीतों के साथ एकतारा बजा बजा कर नृत्य करने वाले और अपने उस नृत्य-प्रदर्शन के माध्यम से भीख माँगने वालों का आज भी अभाव नहीं है। भक्ति से ओत-प्रोत ये गीत गाने वाले की विह्वलता को उसके नृत्यों में मूर्त करते हैं।

किन्तु भक्ति की विह्वलता की पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति करने वाला बंगाल का बहुश्रुत लोक-नृत्य है—कीर्तन। चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव के साथ ही वैष्णवी भक्ति-धारा का जो नया स्रोत उद्भूत हुआ उसने बंगाल के घर-घर में कीर्तन को प्रश्रय दिया। कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करते हुए भावावेश में कीर्तन करता हुआ भक्त उठ कर नृत्य करने लगता है। उसके साथ खोल, करताल और कंसी आदि के वादक भी उठ कर नाचने लगते हैं। भावातिरेक में खोल बजाने वाले व्यक्ति भी उसी प्रकार से नृत्य करने लगते हैं जिस ढंग से मणिपुरी के नर्तक करते हैं। उनकी यह भावविह्वलता उपस्थित जन समुदाय को पारलौकिक जगत की ओर बरबस आकर्षित करती है और वे उन क्षणों में अकथनीय सुख का अनुभव करते हैं। इस नृत्य में नर्तक अपने हाथों को स्वरों के उतार-चढ़ाव तथा भावों की विशिष्ट अभिव्यक्तियों के साथ ऊपर-नीचे करता है। प्रायः इस प्रकार के कीर्तन-नृत्य मन्दिरों अथवा विशिष्ट स्थानों में सम्पन्न होते हैं परन्तु जब ये कीर्तनकार पूरे दल के साथ प्रचार के लिए नगर में कीर्तन करते हुए घूमते हैं तो वह 'नगर-कीर्तन' कहलाता है। इन कीर्तन नृत्यों में कोई भी व्यक्ति जब चाहे भाग ले सकता है। इसके लिए किसी विशेष दीक्षा की आवश्यकता नहीं।

कृष्ण-लीलाओं का वर्णन करने वाला बंगाल का अन्य चर्चित लोक-नृत्य-नाट्य है—'जात्रा'। यह वहाँ का प्राचीन लोक-नृत्य नाट्य है। 'जात्रा' की मण्डलियाँ होती हैं—ठीक जैसे उत्तर भारत में नौटंकी की मण्डलियाँ हैं—जो प्रदेश में घूम-घूम कर 'जात्रा' की लीलाएँ प्रस्तुत करती हैं। 'जात्रा' की परिचालना करने वाला मनेजर 'अधिकारी' कहलाता है। इनमें कृष्ण के जीवन पर आधारित अनेक श्रृंगारपर घटनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं और यथा स्थान उनको रोचक बनाने के लिए नृत्यों का माध्यम स्वीकार किया जाता है। नई चेतनाओं के विकास के साथ 'जात्रा' में अब दूसरी कथावस्तुएँ भी परिलक्षित होती हैं। इनमें सामाजिक तथा राजनैतिक विषयों को भी यदा-कदा उठाया जाता है। जात्रा का रूप भी उत्तर भारत की नौटंकी के विकसित रूप से बहुत मिलता-जुलता है। ● ● ●

दक्षिण के दो लीला नृत्य

●

राम और कृष्ण की गाथाओं को दक्षिण भारत अनेक रूपों में सँजोये हुए है। ये गाथा उनके लोक-जीवन की उतनी ही प्राणवान प्रतिछाया हैं जितनी प्रायः उत्तर भारत की। इसी परम्परा की एक कड़ी खजूर और नारिकेलों के प्रदेश केरल में भी सुरक्षित है। 'कथाकली' के नाम से विख्यात इसी प्रदेश का जीवन्त नृत्य ही इस नृत्य की मौलिकता एवं विराटता इस अद्भुत सौन्दर्य को जन्म देती है।

यक्षगान—कथाकली की गति एवं शिल्प को मूर्त रूप देने में करनाटक के 'यक्षगान' नामक नृत्य-नाट्य का बहुत श्रेय रहा है। 'यक्षगान' एक लोकलीला

नृत्य है। यक्षगान अपने प्रारम्भ से ही लोकमानस में अभूतपूर्व रस की प्रतिष्ठा करता रहा है। यक्षगान सदा मुक्त आकाश के नीचे ही प्रदर्शित होता रहा है। इसके हेतु किसी विशेष प्रकार के मंच अथवा स्थान की आवश्यकता नहीं होती। मुक्त रंगमंच के ही कारण यक्षगान को कहीं-कहीं 'बयालता' के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है।

यक्षगान की लीलाएँ रामायण और महाभारत की कथाओं तथा उपप्रसंगों पर आधारित होती हैं जो कि लोकमानस में पूर्व परिचित रहती हैं। राम की लीला के ऐसे अंश जो कि अधिक नाटकीय हों तथा जिनमें सत्य की अन्तिम विजय परिलक्षित होती है, यक्षगान के कलाकार अपने सौष्ठव पूर्ण अभिनयों से प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार महाभारत में कौरवों के अत्याचार, अनाचार, दुराग्रह तथा उनके पराजय की कथा यक्षगान में प्रायः देखी जा सकती है। अपने इन्हीं कथानकों के कारण यक्षगान धर्मिक लीला का स्थान ले चुका है।

इस नृत्य-लीला के कलाकारों की रूपसज्जा बहुत कुछ उसी ढंग की होती है जैसी कथाकली के नर्तक करते हैं। धोती, उत्तरीय, बगलबन्दी के ढंग का पूरी आस्तीन वाला अँगरखा, पात्र के अनुरूप केश सज्जा तथा मुकुट, एवं अनेक अलंकारों से वे सुशोभित रहते हैं। उनके मुखों पर उस कथा और उन पात्रों के अनुरूप रंग चढ़ाया जाता है। उनकी यह रूप-सज्जा यद्यपि कथाकली के ढंग की होती है किन्तु न तो वह इतनी विषम होती है और न उतनी श्रमसाध्य। इस लीला के पात्र दो प्रकार के होते हैं—(अ) सौम्य (ब) रौद्र। इन्हीं दो के बीच वे पूरी कथा को इस ढंग से बाँट देते हैं कि कथा का विकास इन्हीं पात्रों के माध्यम से बढ़ता रहे। ये कलाकार गायक भी होते हैं। कथा को स्वयं ही गाकर उसका प्रदर्शन करते हैं। नृत्य के एक अंश की समाप्ति के पश्चात् वे फिर गीत

गाकर आगे बढ़ते हैं। ये गीत राम और कृष्ण की लीलाओं का वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

यह नृत्य-लीला बहुधा गरमियों के फसल कट चुकने के पश्चात् गाँवों में हुआ करती थी। यक्षगान की मण्डलियाँ अब कम होती जा रही हैं। दशहरे के अवसर पर मैसूर के मेलों में इनकी झलक अब भी मिलती है। यक्षगान लीला की महान् संभावनाओं तथा उसकी लोकप्रियता को ध्यान में रखकर अब इस माध्यम को पुनर्जीवित करने की चेष्टा की जा रही है। उसके कलाकारों की खोज की जा रही है और नई सशक्त मंडलियाँ बनाने की भी योजना दक्षिण के कला-प्रेमियों द्वारा रक्खी जा रही है। वस्तुतः इस नृत्य-लीला में नृत्य तथा अभिनय की जो क्षमता है उसका मूल उसकी सहजता एवं ऋजुता में है। यदि इस पुनरुद्धार में उसके ये अंश शेष रह गये तो यक्षगान का भविष्य गतिमान रहेगा।

ओत्थुनथुल्लाल—यक्षगान जब कि दल की नृत्य-लीला है, 'ओत्थुनथुल्लाल मात्र एक-व्यक्तीय प्रदर्शन है। दक्षिण भारत की लोक-भाषा में इसे 'गरीबों की कथाकली' कहते हैं। वस्तुतः ओत्थुनथुल्लाल कथाकली की भांति न तो उतना श्रीमंडित होता है और न उसका स्वरूप कथा की अत्यन्त नाटकीय स्थितियों को उभारने का ही होता है। किन्तु फिर भी अपने मूल में यह कथाकली की ही प्रतिच्छाया लगता है। इसकी लोकप्रियता ने ही इसे 'लोक-नृत्य-नाट्य' की संज्ञा दी है।

इस विशेष नृत्य-नाट्य के जन्मदाता का नाम कंचन नम्बियार कहा जाता है। कंचन नम्बियार मूल रूप में कथाकली का नर्तक था। अन्य कलाकारों की भांति वह भी राजसभाओं में अपने प्रदर्शन किया करता था। एक विशिष्ट अवसर पर जब दूसरे कलाकार राजसभा में नृत्य-प्रदर्शन के लिए आमंत्रित हुए, कंचन को नहीं बुलाया गया। इस अपमान को वह सरलता से नहीं सहन कर सका। कंचन नम्बियार ने उसी क्षण यह तै किया कि वह अब राजसभा में नहीं वरन् जनता के समक्ष अपनी कला का प्रदर्शन स्वयं अकेले करेगा और उसने अपने निश्चय को मूर्त रूप दिया। राजमार्ग पर खड़े

होकर जब उसने रूढ़िवादी ब्राह्मणों और सत्ताधारियों का उपहास करते हुए अपना गायन और नृत्य प्रारम्भ किया तो कुछ ही समय में वह अत्यन्त लोकप्रिय कलाकार के रूप में विख्यात हो गया। इसी समय ओत्थुनथुल्लाल का जन्म हुआ। पुरानी रूढ़ियों की प्रतिष्ठा को पहिली बार कंचन नम्बियार के अपमान से उद्भूत इस नृत्य-शैली द्वारा चोट पहुँची।

धीरे-धीरे यह शैली लोकप्रिय होती गई और बहुत से ऐसे कलाकारों का उदय होने लगा। रामायण तथा महाभारत की गाथाओं को ये कलाकार विभिन्न पूर्व परिपाटियों और अनावश्यक सज्जा को पृथक् कर जिस रोचक नृत्य-शैली से प्रस्तुत करने लगे वह एक श्लाघ्य स्थान प्राप्त कर गई। मन्दिरों तथा उत्सवों में जो 'कत्थक्कड़' या कथा कहने वाले थे, वे अपनी कथा को अधिक रोचक बनाने के लिए बहुधा गायन के साथ आंगिक अभिनय भी प्रस्तुत किया करते थे। उन्हीं आंगिक अभिनयों को इस नृत्य की लय में बाँध कर कथाओं को अधिक सशक्त रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा।

ओत्थुनथुल्लाल नृत्य-नाट्य शास्त्रीय नृत्य-विशेषज्ञों के मत में बहुत आदृत नहीं हो पाया है। इसमें गायन, अभिनय तथा नृत्य सब कुछ एक ही व्यक्ति करता है। उसकी सहायता के नाम पर ढोल या नगाड़ा बजाने वाला एक व्यक्ति होता है जिसके संग दूसरा मंजीरा बजाता है। कथाकली शैली पर आधारित इस नृत्य में गायन, अभिनय तथा नृत्य चूँकि एक ही व्यक्ति करता है अतः उसकी श्रेष्ठता के लिए सीमा रेखाएँ हो जाती हैं। एक ही व्यक्ति तीनों कार्य पूरी क्षमता और परिपक्वता के साथ नहीं कर सकता। इस कारण इसका नर्तक कला के शिखरों को सामान्यतः नहीं स्पर्श कर सकता।

किन्तु यदि कलाकार तथाकथित कला के शिखरों को स्पर्श न करके भी, जनमानस को एक बार ही पूरी संवेदना के साथ स्पर्श कर ले, तो क्या उसकी कला की सार्थकता नहीं है? ● ● ●

आदिवासियों के कुछ नृत्य

●

विन्ध्याचल की छाया में बसे हुए पहाड़ी क्षेत्रों एवं अर्ध-पहाड़ी क्षेत्रों के आदिवासियों के अनेक लोक-नृत्यों की मूल भावभूमि उसी तरह की है जिस तरह देश के अन्य भागों में मिलती है। वीरतापूर्ण, उत्साहपूर्ण एवं गतिमयता से भरे पुरे ! गोंड संस्कृति इन सब में विशिष्ट है।

गोंड जाति में में भी करमा नृत्य प्रमुख माना जाता है। प्रायः पंक्तिबद्ध स्त्रियाँ और पुरुष झूम-झूम कर शृंगारिक गीत गाते हैं और नृत्य करते हैं। पुरुष वर्ग वृत्तों में अपने वाद्य बजा कर झूमते हैं और विभिन्न नट कौशल दिखाते हैं। एक-दूसरे के कंधों पर चढ़कर नृत्य करते हैं। फिर कूद-कूद कर

वृत्तों में बँट जाते हैं, और उसी प्रकार नृत्य करते जाते हैं। ज्यों-ज्यों वाद्यों की लय बढ़ती जाती है त्यों-त्यों नृत्य की लयात्मक भी तीव्रतर होती जाती है। गोंड बैसाखी द्वारा बड़े-बड़े जंगलों में तेजी से चल सकता है और लम्बे रास्ते जल्द से जल्द पार कर लेता है। गोंड युवक इन बैसाखियों के सहारे भी एक रोचक नृत्य करते हैं। उनके ऋतु-नृत्यों में दिवारी, चैतडंडा और नवरात्री प्रमुख हैं। फसल की बुवाई करते समय वे एक अन्य नृत्य करते हैं जिसे 'बीज फुटर्ना' नृत्य कहते हैं। गोंदा नृत्य वर्षा की देवी को प्रसन्न रखने के लिए किया जाता है जिससे वे तालाब को भरपूर जल देती रहे। लक्ष्मीपूजन का एक विशिष्ट नृत्य 'लक्ष्मी जागर' के नाम से बहु-प्रचलित है। लक्ष्मी की एक सुन्दर मूर्ति की स्थापना करके गाँवों की स्त्रियाँ और पुरुष एकत्र होते हैं। मूर्ति को फूलों से सुसज्जित करके वे उसके सामने गीत गाते हैं और नृत्य करते हैं।

भील और बनजारों के नृत्य विशेषतः मध्यभारत के क्षेत्र में प्रचलित हैं। भीलों का मनोरंजक 'दागला' नृत्य केवल पुरुषों द्वारा ही किया जाता है। 'पालो' नृत्य में स्त्रियाँ और पुरुष दोनों सम्मिलित होते हैं। बनजारों का 'लांगी' नृत्य श्रावण मास में होता है। इस नृत्य में प्रायः वीरों के गीत गाये जाते हैं और उनके द्वारा किये गये कार्यों के यशका वर्णन होता है। बनजारों के गीतों में अक्सर पृथ्वीराज चौहान की कथा सुनाई पड़ती है। 'घेरों' नृत्य जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है एक वृत्तात्मक नृत्य है। हाथ में हाथ डाल कर बनजारे एक घेरे में घूम-घूम कर नृत्य करते हैं। 'कमचिनों' नृत्य भी इसी प्रकार का होता है किन्तु इसमें नर्तक बनजारे अपने कंधों पर दूसरे बनजारों को लेकर घूमते हैं। होली पर होने वाला उनका 'झाग' भी एक विशिष्ट नृत्य होता है। इस समय बनजारे अपने हाथ में तलवार लेकर नृत्य करते हैं। एक बनजारा युवक स्त्री का रूप धारण करके उनके बीच में नृत्य करता है और कुछ लोग बाजा बजाते हैं। स्त्रियों का लोटा-नृत्य बड़ा आकर्षक होता है इसमें वे अपने सिर पर पानी के लोटे या छोटे गगरे रख कर नृत्य करती हैं। इन नृत्यों के साथ वे गीत गाती हैं।

दक्षिण के बनजारों का नृत्य यद्यपि इससे कुछ भिन्न होता है किन्तु अंग-

संचालन एवं मुद्राएँ प्रायः एक जैसे ही होती है। इस क्षेत्र की बनजारिन का विवाह तभी हो सकता है जब वह एक कुशल नर्तकी के रूप में यश प्राप्त करे। उनके नृत्यों में उनके दैनिक जीवन की अनेक प्रक्रियाएँ परिलक्षित होती हैं। ये बनजारिन और बनजारे नृत्य करते समय जिप्सियों के ढंग की मालाएँ और पत्थरों से अपना शृंगार करते हैं। उनके घांघरे चटक एवं श्वेत रंग के होते हैं। उनकी चोलियाँ विभिन्न प्रकार के सल्मा-सितारों से जड़ी होती हैं और उनको कई कपड़े जोड़ कर बनाते हैं। स्त्रियाँ अपनी कलाई में घुँघरू बाँधती हैं पाँव में नहीं। उनके कानों की बालियाँ इतनी भारी होती हैं कि उन्हें सहारा देने के लिए पिनों से बालों में बाँधना पड़ता है।

हैदराबाद के गोंडों के दल घूम-घूम कर नृत्य करते हैं। जिस गाँव में वे पहुँचते हैं वहाँ उनका बड़ा आदर एवं सत्कार किया जाता है। 'डांडरिया' नृत्य में वे वृत्तों में घूम कर लकड़ियों से ताल को बाँधते हैं। 'डांडरिया नृत्य' के विषय में कहा जाता है कि यह 'डांडरिया' नामक व्यक्ति के नाम पर प्रचलित है।

आदि वासियों के इन नृत्यों में उन मूल तत्वों के दर्शन होते हैं जो धरती-पुत्रों के सहज रागात्मक बोध का परिचायक है। ● ● ●

असमिया लोक नृत्य

●

तिब्बती, मंगोल और आर्य संस्कृतियों के संगम का उत्कृष्ट उदाहरण असम में दिखाई पड़ता है। एक ही क्षण में प्राण ले लेने वाली और दूसरे क्षण में हँस कर नाचने वाली—दोनों सीमाओं को एक ही सूत्र में गूँथने की क्षमता असम के धरती-पुत्रों की संस्कृति में बसी हुई है। प्रकृति के रंगा-रंग वैविध्य से तदात्म्य रखते हुए वे अपने नृत्यों में जीवन की समस्त सुखद अनुभूतियों की अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। असम में अनेक प्रकार के लोग बसे हुए हैं और उनकी विचित्रता, उनकी भावभिव्यक्तियाँ, उनकी रसमयता एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हुए भी समानान्तर चलती है।

'खासी' जाति असाम की बहुचर्चित आदिवासियों में से है। ये अपने रूप-रंग में बहुत कुछ मंगोलों के ढंग के होते हैं। खासी जाति में स्त्री जाति का प्राधान्य रहता है। घर की सारी व्यवस्था और आमदनी का भार उन्हीं पर रहता है। खासी स्त्रियाँ हर एक कार्य में स्वयं अगुवा रहती हैं। खासियों के नृत्य बहुधा गाँवों में उस समय होते हैं जब उनके पास काफी धन एकत्र हो जाता है। इस अवसर पर खासी पुरुष आकर्षक पगड़ियाँ बाँधते हैं और गले में सोने और शंख की गुरियों की मालाएँ पहिनते हैं। उनके हाथों में तलवारें होती हैं या जानवरों की पूँछें होती हैं जिन्हें हिलाते हुए वे नृत्य करते हैं। स्त्रियाँ पंखों से सजा हुआ चाँदी का छोटा-सा मुकुट पहिन कर नृत्य करतीं हैं। इन नृत्यों में केवल क्वाँरी लड़कियाँ ही नृत्य करतीं हैं क्योंकि वे पवित्र मानी जाती हैं। उनके ये नृत्य बहुधा 'दादियों के प्रति श्रद्धा' प्रकट करने के लिए किये जात हैं। उनका विश्वास है कि 'दादी' (बाप की मृत माँ) उन्हें सारे संकटों एवं विघ्न-बाधाओं से सदा बचा कर रक्खेगी। खासी जाति अपनी धरती के प्रति श्रद्धा रखती है। वह धरती को माता समझता है और उसके हर स्त्री-सम्भव-स्वरूप की कल्पना करता है। धरती ही सब को अन्न और पानी देती है। धरती सब को वस्त्र देती है। धरती रहने के लिए स्थान देती है। इसी कारण धरती माता है। वह सबसे अधिक पूज्य है। उस धरती की ही प्रतिरूपा मानवी है। इसी कारण स्त्री का खासी जाति में इतना अधिक सम्मान है। वह अपने नृत्यों में भी बहुत उछल-कूद नहीं करते। उनके नृत्य प्रायः एक विशिष्ट अंग-संचालन में जकड़े हुए रहते हैं। अनेक कला पारखियों का कथन है कि इन जकड़े हुए अंग-संचालनों के माध्यम से नृत्य नहीं हो पाता और खासी नृत्य वस्तुतः अकलात्मक है। किन्तु उसके पीछे खासी जाति की धरती के प्रति जो श्रद्धा और आस्था है उसका ध्यान नहीं रक्खा जाता। वे इस धरती के प्रति इतने चेतन है कि उनके नृत्य में स्त्रियाँ पृथ्वी की ओर एकटक ताकती रहती हैं। कभी अपना मस्तक ऊपर उठाकर किसी दूसरी ओर अपने नेत्र नहीं चलातीं।

असम के मैदानों में बसने वाली 'बोड़ो' या 'बोड़ो क्यारी' नामक जाति

का मुख्य धन्धा खेतीबारी है। वे शैव होते हैं और उनके नृत्यों में प्रायः किसी न किसी रूप में शिव का वर्णन आ जाता है। शिव उनकी खेतीबारी को सफल करते हैं शिव उनको अन्न, धन और सोना देते हैं शिव समय पर मेह बरसाते हैं। शिव ही उनके हर अवसर के रक्षक हैं। 'नरपूजा' नामक अवसर पर वे वीर-नृत्य करते हैं जिसमें शिव को प्रसन्न करते 'हबाजनाह' नामक नृत्य प्रायः विवाह के अवसर पर ये लोग करते हैं।

चैत्र के अंतिम दिन किया जाने वाला 'बीहू' नृत्य भी असम का लोकप्रिय नृत्य है। यह नृत्य भी फसल की कटाई से सम्बन्धित है। लोग ढोल और नगाड़ों आदि वाद्यों के साथ एकत्र होते हैं और उछाह के साथ नृत्य करते हैं। इस अवसर पर युवक और युवतियों के अनेक रागात्मक स्तर देखे जा सकते हैं। वे नृत्य में एक-दूसरे की टोलियों में भाग लेते हैं। यह नृत्य प्रायः आधी रात तक चलता रहता है। 'बीहू' के अवसर पर असमियाँ लोग एक-दूसरे को प्रेम-भेंट भी देते हैं।

असम का सीमान्त नागाओं का प्रदेश है। नागाओं की अनेक उपजातियाँ, दल, टुकड़ियाँ तथा टोलियाँ हैं, उनके रहन-सहन एवं जीवन के ढंग बहुत कुछ एक-दूसरे से मिलते-जुलते से लगते हैं किन्तु मूलतः वे सब अपने को दूसरे दल से सर्वथा अलग मानते हैं। इन नागाओं के विभिन्न नाम हैं। अंगमी नागा, मोजो, वेर्ण, कम्बुई, कुबी आदि अनेक बहुश्रुत नागा जातियाँ इस प्रदेश में बसती हैं। उनके नृत्य अधिकतर वीरता से ओतप्रोत रहते हैं और उन्हें वे शत्रु से युद्ध करने एवं उन पर विजय प्राप्त करने के एक अभ्यास रूप में करते रहते हैं।

नृत्य करने के लिए ये नागा बड़े ही आकर्षक रंग-बिरंगे कपड़े पहिनते हैं। खाल, छाल, मूँगा, शंख, मोती तथा पंखों से अपने शरीर को सजाते हैं। सारे शरीर पर लेप चढ़ाते हैं, हाथों में कंकण पहिनते हैं, और सींगों के मुकुट लगाकर थिरकते हैं। लम्बे-लम्बे बरछे लेकर वे इस तरह नाचते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने किसी प्रतिद्वंद्वी से युद्ध कर रहे हैं। उनका बरछा प्रतिद्वन्द्वी पर आक्रमण करता है। फिर पलट कर उसी चलाने वाले पर आता

है, फिर वह अपने कौशल से उस आक्रमण से बचने की मुद्राएँ दिखाता है। जेमी नागाओं के नृत्य में बहुधा छोटे-मोटे जीव-जन्तुओं के मुद्राओं की गति-विधियों की अनुभूति की जाती है। उत्तरी कछार पहाड़ियों में बसने वाले जेमी आदिवासियों का 'खम्बालिम' और 'नुरहरालिम' नृत्य विशिष्ट है। 'खम्बालिम' नृत्य में दो पंक्तियों में स्त्रियाँ और पुरुष एकत्र होते हैं फिर नृत्य करते हुए वे अपना स्थान परिवर्तन कर लेते हैं। विशेषता यह होती है कि सारे नृत्य में वह पंक्ति टूटने नहीं पाती। 'नुरहरालिम' मुर्गों की लड़ाई का नृत्य है। इसके द्वारा युवक-युवतियाँ अपने नृत्य में मुर्गों की लड़ाई दिखाते हैं। 'कुंबुई नागा' स्त्रियों का नृत्य अत्यन्त दुरूह एवं जटिल होता है। वे पहिले बैठकर विभिन्न कोण बनाती हैं फिर खड़ी होकर नृत्य करती हैं। खड़े होकर नृत्य करते समय वे अपनी पिंडलियों पर दूसरे पाँवों से थाप लगाती रहती हैं। 'अंगमी नागा' सबसे अधिक अपने पाँव पर ध्यान देता है। पाँव ही उसका सर्वस्व है। पाँव न होने पर न तो वह अपने घर यानी पहाड़ की चोटी तक पहुँच सकता है और न वह काम करके अपना पेट ही भर सकता है। इसीलिए वे अपने नृत्यों में अपने पैरों का बहुत श्रृंगार करते हैं। नागाओं के प्रत्येक नृत्य में उनके पद-संचालन बड़े ओजस्वी एवं महत्वपूर्ण होते हैं। नागाओं के प्रदेश में बाँस की बहुतायत है। बाँस उनके जीवन के विभिन्न अंगों में कहीं न कहीं अवश्य दीख जायगा। कुकी नागाओं के नृत्य में बाँस नृत्य पृथक् नृत्य ही है जिसमें चार व्यक्ति चार कोने पर बैठकर बाँस के टुकड़ों को उससे हटा कर और मिला कर कभी एक ढंग के वर्ग का निर्माण करते हैं और कभी दूसरे ढंग का। नागा नर्तक इन वर्गों में इस तरह से कूद-कूद कर नृत्य करता है कि उसमें एक समा सा बँध जाता है।

असम में भी बंगाल की ही भाँति वैष्णवता का आन्दोलन कुछ समय पूर्व बड़ी तीव्र गति से उठा था। वैष्णव धर्म के प्रचार और कृष्ण की लीला-गान के हेतु अनेक नृत्य असम में प्रचलित हुए। श्री शंकर देव ने कामरूप नृत्य के आधार पर इन वैष्णव नृत्य-लीलाओं को जन्म दिया। इन सब में केलि-गोपाल एक विशिष्ट कृष्णलीला है जिसमें कृष्ण के गोचारण, बकासुर बध,

गोपीरास, शंखासुर बध तथा महारास की लीलाएँ क्रमशः प्रस्तुत की जाती हैं। इसमें गोपियों को कृष्ण का पारब्रह्म स्वरूप दिखाने के लिए दशावतारों को भी यथावसर प्रदर्शित किया जाता है।

नृत्य के क्षेत्र में असम की विविधता एवं रंगमयता अति प्रसिद्ध रही है। इधर कुछ समय से वहाँ ईसाई-मिशनरियों के प्रचार के फलस्वरूप अनेकानेक जातियाँ समूह में ईसाई धर्म को स्वीकार करती जा रही हैं। ईसाई धर्म को स्वीकार करने से वे अपने इन नृत्यों के प्रति भी अपनी आस्था खोते जा रहे हैं क्योंकि मूल रूप में ये सभी नृत्य उनके धार्मिक प्रेरणाओं से ही जुड़े थे। ईसाई मत के प्रचारक इन नृत्यों को उनके अंधविश्वासों का रूप समझ कर उन्हें इससे रोकते हैं। अतः अब इन नृत्यों की शृंखला टूटती-सी जा रही है। ● ● ●

महराज बिन्दादीन

उत्तर भारत में 'कत्थक नृत्य' शैली भारतीय नृत्य प्रणाली का सबसे प्रबल और प्रमुख अंग मानी जाती रही है। कत्थक नृत्यकार मन्दिरों में नृत्य किया करते थे। इस नृत्य शैली का केन्द्र लखनऊ तब से बना जब महराज बिन्दादीन के पिता महराज* ठाकुर प्रसाद ने अवध के नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में आकर राज्याश्रय ग्रहण किया। नवाब स्वयं कला विलासी थे अतः उनकी छत्रछाया में इस नृत्य शैली को पनपने का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ।

* इस घराने के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए 'महराज' की उपाधि मिली हुई थी, जो आज तक चली आ रही है।

कुछ प्रमुख नृत्यकार

कुछ प्रमुख नृत्यकार

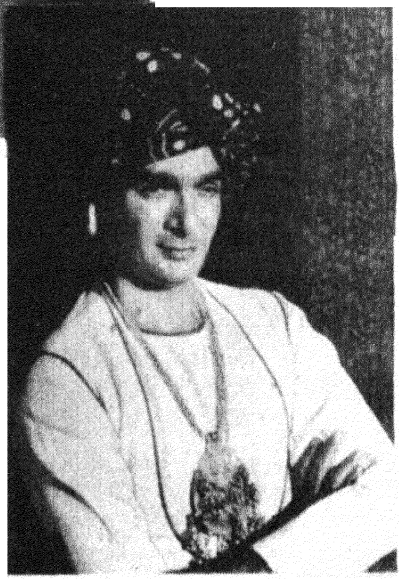

कत्थक नृत्य को उसके चरम विकसित शिखर तक ले जाने और उसे एक महान् कला के रूप में सम्मानित एवं प्रतिष्ठित कराने का श्रेय महाराज बिन्दादीन को ही है। उन्होंने कत्थक नृत्य को शास्त्र-सम्मत ढंग से निबद्ध किया—उसमें एक क्रम स्थापित किया—नवीन रचनाएँ कीं और अनेक नई प्रतिभाओं के द्वारा उस शैली को एक पद्धति के रूप में आगे बढ़ाने का सफल प्रयास किया।

कला-प्रदर्शन की शैली की रोचकता बनाने के लिए महराज बिन्दादीन ने उसे नया रूप दिया। उनके नृत्य प्रदर्शनों में प्रायः पार्श्व में एक ओर सारंगी वादक और दूसरी ओर तबला वादक के रूप में उनके अनुज कालका महाराज होते। साथ ही एक मंजीर वादक होता तथा ताल की विषमताओं को ताली के माध्यम से बार-बार बजाकर उपस्थित जन-समूह को समझाने के लिए भी एकाध व्यक्ति उनकी उस टोली के अभिन्न अंग रहते। कार्यक्रम प्रारम्भ होते ही सारंगी वादक 'लहरा' छेड़ता, तथा तबला वादक उठान बोलों, परनों और गतों की झड़ी-सी लगा देता। वातावरण की सृष्टि हो जाने पर कलाकार महाराज बिन्दादीन अपनी सहज मन्द मुस्कान के साथ ताल का खेल प्रारम्भ कर देते थे। ताल की विषम 'बन्दिशों' पर उनके पाँव जिस तरह थिरकते थे, उसे देखकर लोग रोमांचित हो उठते थे। ताल, तोड़ा, परन और गतों की जो जोड़-तोड़ और होड़ होती थी, उससे न केवल ताल का चमत्कार और कौतुक होता था वरन् कला की वह चरम निपुणता भी परिलक्षित होती थी जिसके पीछे कलाकार की साधना छिपी हुई रहती। तबला वादक एक से एक टेढ़े बोल अपने वाद्य में बजाकर दिखाता और महाराज बिन्दादीन दूसरे ही क्षण उसे अपने पद-संचालन से प्राणवान और मुखरित कर देते थे। इसी प्रकार जब वे किसी बोल को अपने पद-संचालन में दिखाते तो तबला वादक उसे ज्यों का त्यों उतार देता। लय की बढ़त, आड़ी लय और इसी ढंग के दूसरे चमत्कार दर्शक वृन्द को एकदम मंत्रमुग्ध कर देते थे। इस वातावरण की सृष्टि के बाद ही वे किसी विशिष्ट भाव की ठुमरी या दादरा को उठाकर उसे अपनी मुद्राओं से प्रदर्शित करते थे। प्रायः ये रचनाएँ स्वयं उन्हीं की

अपनी मौलिकता पर अधिक से अधिक ध्यान चाहिए क्योंकि उनकी वह मौलिकता ही उनके व्यक्तित्व का निर्माण कर सकती है। उनके शिष्यों में जिन व्यक्तियों ने उनके इस मूल आग्रह पर ध्यान दिया है, केवल उन्हीं की कला उस दिशा में विकसित हो सकी। महाराज बिन्दादीन ने भावों को ग्रहण करने और उसे पूर्ण क्षमता के साथ प्रदर्शित करने पर न केवल बल दिया, किन्तु भावुकता से बचने के लिए अपने सम्पर्क मे आने वाले हर कलाकार को सावधान किया।

कला की चरमोपलब्धि अन्ततः बिन्दा महाराज को भी भक्ति की ओर खींच ले गई। यह भक्तिभावना उनकी अनेक रचनाओं में परिलक्षित होती है। जब वे विशिष्ट मुद्राओं में कृष्ण की विभिन्न लीलाओं को रसमय एवं भावपूर्ण ढंग से प्रदर्शित करते तो अनेक बार जन-समूह उन्हें अवतारिक समझ कर अपनी श्रद्धा समर्पित करता। कृष्ण जन्माष्टमी के अवसर पर बिन्दा महराज का छः दिनों का विख्यात नृत्य प्रदर्शन हुआ करता था।

कत्थक की नृत्य परम्परा में बिन्दादीन महराज के घराने ने कई मान्य कलाकारों को जन्म दिया। स्वयं उनके भाई के तीन पुत्रों अच्छन महराज, लच्छू महराज और शम्भू महराज, ने इस क्षेत्र में काफी ख्याति पाई। अच्छन महराज ने तो अपने जीवन काल में उसी परम्परा को बहुत अंशों में जीवंत रक्खा था। अच्छन महराज को स्वयं बिन्दादीन महराज ने शिक्षा दी थी।

बिन्दादीन महराज के नृत्य कौशल के कारण लखनऊ नृत्य सीखने वालों का केन्द्र बन गया। देश के अनेक भागों से लोग यहाँ नृत्य सीखने आते रहे और उस परम्परा को अपने घुँघरुओं से देश के कोने-कोने मे मुखरित करते रहे। ● ● ●

होती थीं और इनमें राधाकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का उल्लेख रहता था। इन विशिष्ट भावों को जिस प्रवणता के साथ सदा नवीनीकरण करके वे 'अदा' करते थे—वह उनकी कला की चरम उपलब्धि होती। वे उस समय अपने साथ अपने तमाम दर्शकों को संगीत के उन सीमातीत क्षेत्रों में खींच ले जाते थे, जिसका वर्णन 'गुगे का गुड़' बन जाता था। आत्मोपलब्धि के वे क्षण न केवल कलाकार बिन्दा महराज (उनका जन-प्रचलित नाम !) को महान् बना देते थे वरन् उन समस्त उपस्थित दर्शकों को भी उस उपलब्धि का स्पर्श करा सकते थे। कला की यह महानता निश्चित ही अत्यन्त स्वल्प रूप से ही कहीं और दिखाई पड़ सकती होगी।

महराज बिन्दादीन कद में छोटे और साँवले थे। उनके घुँघराले केश उनके व्यक्तित्व को नई छटा देते थे। उनके मुख पर नृत्य प्रदर्शन के पूर्व एक विचित्र ओज और मुस्कानों का खेल होता रहता था। दर्शकों की मनोवृत्ति पकड़ने और समझने की उनमें दैवी क्षमता थी। नृत्य को ऐसे रोचक जीवंत-कोण से उठा कर उसे अपने मनचाहे कला के शिखरों की ओर अनजाने ही खींच ले जाने की उनमें अद्भुत शक्ति थी। भावों की वैसी काल्पनिक अभिव्यक्ति, कत्थक शैली के अनेक नर्तकों के लिए आदर्श की वह सीमा बन गई है जिसे एक बार भी स्पर्श कर लेना उनके लिए महान् गौरव की वस्तु है।

स्वयं एक महान् कलाकार होने के साथ ही साथ महराज बिन्दादीन ने इस कला को जैसा हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, शास्त्र सम्मत बनाने के लिए यथेष्ट प्रयत्न किया है। बोलों परनों और अनेक गतों की रचनाएँ स्वयं उनकी की हुई हैं, जो शृंगार के उन भावों से साम्य करती हुई चलती हैं, जिन पर यह नृत्य-शैली आधारित है। वे कवि भी थे। उनके लिखे हुये गीत आज भी संगीत संसार में उतने ही लोकप्रिय हैं। बिन्दा महराज एक अत्यंत कुशल शिक्षक थे। उनकी शिष्य परम्परा आज भी देश में कत्थक नृत्य को विकसित कर रही है। जितने श्रम से वे अपने शिष्यों को सिखाते थे, वह उनके सम्पर्क में आने वालों के लिए आनन्द की विशिष्ट अनुभूति थी। अपनी कला-शिक्षा में वे बराबर अपने शिष्यों को आदेश दिया करते थे कि उन्हें

अपनी मौलिकता पर अधिक से अधिक ध्यान चाहिए क्योंकि उनकी वह मौलिकता ही उनके व्यक्तित्व का निर्माण कर सकती है। उनके शिष्यों में जिन व्यक्तियों ने उनके इस मूल आग्रह पर ध्यान दिया है, केवल उन्हीं की कला उस दिशा में विकसित हो सकी। महाराज बिन्दादीन ने भावों को ग्रहण करने और उसे पूर्ण क्षमता के साथ प्रदर्शित करने पर न केवल बल दिया, किन्तु भावुकता से बचने के लिए अपने सम्पर्क मे आने वाले हर कलाकार को सावधान किया।

कला की चरमोपलब्धि अन्ततः बिन्दा महाराज को भी भक्ति की ओर खींच ले गई। यह भक्तिभावना उनकी अनेक रचनाओं में परिलक्षित होती है। जब वे विशिष्ट मुद्राओं में कृष्ण की विभिन्न लीलाओं को रसमय एवं भावपूर्ण ढंग से प्रदर्शित करते तो अनेक बार जन-समूह उन्हें अवतारिक समझ कर अपनी श्रद्धा समर्पित करता। कृष्ण जन्माष्टमी के अवसर पर बिन्दा महराज का छः दिनों का विख्यात नृत्य प्रदर्शन हुआ करता था।

कत्थक की नृत्य परम्परा में बिन्दादीन महराज के घराने ने कई मान्य कलाकारों को जन्म दिया। स्वयं उनके भाई के तीन पुत्रों अच्छन महराज, लच्छू महराज और शम्भू महराज, ने इस क्षेत्र में काफी ख्याति पाई। अच्छन महराज ने तो अपने जीवन काल में उसी परम्परा को बहुत अंशों में जीवंत रक्खा था। अच्छन महराज को स्वयं बिन्दादीन महराज ने शिक्षा दी थी।

बिन्दादीन महराज के नृत्य कौशल के कारण लखनऊ नृत्य सीखने वालों का केन्द्र बन गया। देश के अनेक भागों से लोग यहाँ नृत्य सीखने आते रहे और उस परम्परा को अपने घुँघरुओं से देश के कोने-कोने मे मुखरित करते रहे। ● ● ●

राम गोपाल

●

मैसूर की अनेक भेंटों के बीच, भारतीय कला और संस्कृति को, रामगोपाल की देन अपने में महत्वपूर्ण है। भारतीय नृत्यों का सौष्ठवपूर्ण-प्रदर्शन और उसके प्रति कलात्मक अभिरुचि विदेशों में जगाने के लिए रामगोपाल और उदयशंकर अग्रणी कलादूतों में से हैं। प्राचीन परम्पराओं एवं नवीन कल्पनाओं का अपूर्व सम्मिश्रण रामगोपाल के नृत्य संयोजनों में दिखाई पड़ता है।

रामगोपाल का परिवार विद्वानों और कलाप्रेमियों का परिवार था। उनके पिता अजमेर के रहने वाले थे और बर्मा में वकालत करने के बाद बंगलौर में बस गये। बर्मी माँ की कलाप्रियता की छाप सम्पूर्ण परिवार पर थी। पिता

चाहते थे कि रामगोपाल उन्हीं की तरह विद्वान् बने और साहित्यिक अभिरुचि को संस्कृत करे। नृत्य को वे भी उस समय के वातावरण में प्रचलित 'नाच' का पर्यायवाची समझते थे और उसे हेय दृष्टि से देखते थे। बालक रामगोपाल को नृत्य ही सीखने की धुन समाई हुई थी। पिता के इन विचारों को जान कर उसे अपनी आकांक्षा पूरी करने के लिए सबसे छिपा कर नृत्य का अभ्यास करना पड़ा। बंगलौर में उस समय नृत्य की शास्त्रीय दीक्षा देने वाली कोई संस्था नहीं थी। बालक रामगोपाल रिकार्ड बजा कर नृत्य किया करता था। छोटी-छोटी घरेलू गोष्ठियों में उसके सजीले व्यक्तित्व के कारण नृत्य के ये संक्षिप्त प्रदर्शन बड़े लोकप्रिय हुए।

रामगोपाल ने अपनी इस कला के विकास के लिए सर्वप्रथम कथाकली का आश्रय लिया। उसने कवि वल्लातोल के केरल कलामण्डलम् में कथाकली सीखना शुरू किया। रामगोपाल अन्य नर्तकों की अपेक्षा भाग्य का बहुत धनी है। जिस समय उसकी शिक्षा चल ही रही थी, बंगलौर में प्रसिद्ध अमरीकी नर्तकी 'लॉ मेरी' का आगमन हुआ। भाग्यवशात् उसने रामगोपाल का नृत्य प्रदर्शन देखा और उससे वह इतनी प्रभावित हुई कि उसने रामगोपाल को साथी कलाकार के रूप में विश्व भ्रमण करने का निमंत्रण दिया। रामगोपाल ने इस अवसर का पूरा लाभ उठाया और वस्तुतः पहली बार उसको कला अपनी सम्पूर्णता में अभिव्यक्ति पा सकी। लॉ मेरी के साथ रामगोपाल ने सुदूर पूर्व का भ्रमण किया और इसके पश्चात् अमरीका और योरुप जाकर भारतीय नृत्य-कला के प्रदर्शनों से लोगों को आकर्षित किया। भारत लौटने पर रामगोपाल ने अपने नृत्यदल का स्वयं निर्माण किया और पुनः योरुप का दौरा किया। इंगलैंड में रामगोपाल को अबाध लोकप्रियता मिली।

जिस सहज ढंग से रामगोपाल को इतनी लोकप्रियता मिली वह दूसरों के ही लिए नहीं स्वयं रामगोपाल के लिए भी एक अचरज की वस्तु थी। विदेशों में भारतीय कलाओं के प्रति जैसा कौतूहल आज भी बना हुआ है, सम्भवतः उसका लाभ इन विदेशगामी कलाकारों को मिला। देश की अनेक संगीत गोष्ठियों और सम्मेलनों में भी रामगोपाल ने अपने कलात्मक प्रदर्शन

किये। किन्तु यहाँ के नृत्य आलोचकों के हृदय में भारतीय नृत्य की परंपराओं तथा शास्त्रीय नियमों का आग्रह जिस रूढ़ि के साथ बैठा हुआ है, उसने रामगोपाल के नृत्यों के प्रति प्रायः असहिष्णु और शंकालु मत ही व्यक्त किये हैं।

वस्तुतः किसी सीमा तक यह सत्य है कि भरत-नाट्यम जैसे शास्त्रीय रूढ़ि नृत्य आधुनिकता से अधिक समन्वय नहीं स्थापित कर सकते। इन सभी शास्त्रीय नृत्यों का मूल आग्रह जिस रूप में मात्र रस वादी सिद्धान्तों को लेकर विकसित हुआ है, उसे आधुनिकता और यथार्थ की ओर खींचने में रामगोपाल जैसे कलाकारों को यथेष्ट कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इस समय भी रामगोपाल के सामने यही सबसे बड़ी समस्या है।

रामगोपाल के नृत्य संक्षिप्त हैं, मोहक हैं, और आग्रहपूर्वक किसी भी आधुनिक चेतना वाले नृत्य पारखी को आकर्षित करते हैं। जिस उत्साह और मनोयोग के साथ रामगोपाल ने अपनी प्रतिभा का सदुपयोग किया है वह निश्चित ही उसकी कला को एक दिशा दे सकने में समर्थ होगा। रामगोपाल की नई नृत्य-संयोजनाएँ इस बात की प्रमाण हैं।

शास्त्र के जटिलतम बन्धनों का मोह त्याग कर भारतीय नृत्य को विश्व-जनीन कलात्मक चेतना के स्तर पर लाने के लिए रामगोपाल का व्यक्तित्व जिस प्रकार सहायक बना है, उसके प्रति भारत के वे सभी भावी कलाकार कृतज्ञ होंगे, जो इनकी बनाई हुई पीठिका पर उन नृत्यों को भी प्रदर्शित कर सकेंगे जिनमें भारतीय नृत्यों की सम्पूर्ण विषमताएँ कलात्मक अभिव्यक्ति पाती हैं। ● ● ●

उदयशंकर

भारतीय नृत्य प्रणाली की परम्पराओं से अपने को विच्छिन्न करके भी नृत्य की आत्मा का स्वर अपनी गतिमयता में मुखर करने वालों में उदयशंकर सबसे प्रमुख हैं। वे अपने को किसी विशिष्ट शैली के प्रतिनिधि नर्तक नहीं कहते और न वे किसी विशिष्ट शैली के चमत्कारों को प्रदर्शित करने में ही अपने नृत्यों की इतिश्री समझते हैं। उदयशंकर ने सच्चे कलाकार के रूप में कला को जीवन के उस पक्ष से जोड़ने का यत्न किया जो उसे अधिक प्राणवान् रसवान और गतिमान बनाता है। इसीलिए उदयशंकर ने नृत्य को जीवन की एक कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण किया।

उदयशंकर की रुचि बचपन से ही ललित कलाओं की ओर थी। अपना

जीवन-क्रम उन्होंने चित्रकला से प्रारम्भ किया किन्तु रेखाओं की सहज गतिमयता ने उन्हें नर्तक बनने के लिए विवश कर दिया। उन रेखाओं ने उनकी अपनी मुद्राओं में अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति पाई। उदयशंकर ने मूर्ति-कला का भी विशेष अध्ययन किया। उसकी कला ने शंकर को बहुत सीमा तक अभिभूत किया। इन्हीं रेखाओं के उतार-चढ़ाव और उभारों ने ही शंकर के अनेक कदमों और अंगहारों में नये रंग भर दिये।

इस कलाकार को अपनी वय के अनुसार बहुत शीघ्र ही लोकप्रियता मिल गई। रामगोपाल की भाँति ही उदयशंकर की प्रतिभा को सबसे पहले मान्यता और प्रतिष्ठा देने वाली एक विदेशी प्रसिद्धरूसी बैले नर्तकी अन्ना पावलोवा ही थी। पावलोवा के साथ शंकर ने विदेशों में यथेष्ट ख्याति अर्जित की और वहीं शंकर के मन में यह बात उठी कि भारत के नृत्य का सच्चा प्रतिनिधित्व वे ही विदेशों में कर सकते हैं। उदयशंकर ने भारत में अपने दल का निर्माण किया और अनेक बार विदेशों में जाकर इस देश की महान् कला का विजय-ध्वज फहराया। बहुत काल तक विदेशों में 'भारतीय नृत्य' और उदयशंकर समानार्थी शब्द समझे जाते थे।

उदयशंकर ने अपनी नृत्य संयोजना में भारतीयता पर अधिक बल दिया। पौराणिक कथा वस्तुओं पर आधारित शंकर ने कई नृत्यों की रचना की। 'शिव ताण्डव' नृत्य शंकर के अति प्रसिद्ध और बहुचर्चित नृत्यों में से है। 'कालिय-दमन' नृत्य-संयोजना भी ऐसी ही थी। 'कार्तिकेय' के रूप में जिन्होंने शंकर को देखा है, वे उसकी रौद्र गतिमयता को कभी भुला नहीं सकते। 'रासलीला' का 'ऑपेरा' भी उदयशंकर की ख्याति में योग देता रहा है। इन सभी कथाओं के माध्यम से शंकर ने उन विशिष्ट रसों की अनुभूति को मुखरित किया। आधुनिक और जागरूक कलाकार होने के नाते शंकर ने अन्य दूसरे वृहत नृत्य-नाट्यों की भी रचना की। 'फ़सल कटाई' का नृत्य नाट्य या 'मशीन और मजदूर' एवं 'जीवन की गति' जैसे नृत्य-नाट्यों में मानव जीवन की उन विषमताओं को इस कला के माध्यम से उठाया गया जो आज समाज में परिलक्षित होती है। संक्षिप्त किन्तु प्रभावपूर्ण नृत्यों की रचना भी शंकर ने

की है जिनमें 'सँपेरा नृत्य' जैसी अनेक रचनाएँ हैं। एक सशक्त कलाकार होने के साथ ही साथ उदयशंकर में 'रचनाकार' कितना प्रमुख है यह स्पष्ट ही दीख पड़ता है। वस्तुतः उदयशंकर की सफलता का रहस्य ही उनकी रचना प्रतिभा है। अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए नृत्य की प्रभावपूर्ण रचनाएँ तैयार कर लेना, और उन्हें सफलता के साथ प्रदर्शित कर पाना, भारतीय नर्तकों में एक मात्र उदयशंकर के ही सामर्थ्य की बात थी। इसमें उनके अनेक सहयोगियों ने साथ दिया, जिनमें अमला नन्दी, ज़ोहरा और सिमकी आदि प्रमुख हैं।

उनकी सिद्धि की पृष्ठभूमि में कई तत्व कार्य कर रहे थे जिन पर शंकर ने अपने प्रारम्भिक काल से ही ध्यान दिया। नृत्य की, विशेष रूप से भारतीय नृत्य की सफलता बहुत कुछ संगीत रचना पर निर्भर करती है। किस प्रकार के नृत्य के लिए किस ढंग के संगीत की, भावभूमि की आवश्यकता होगी जो सम्पूर्ण नृत्य की रसानुभूति को पूरी भाव प्रवणता के साथ मंच और दर्शकों के बीच सशक्त माध्यम का कार्य कर सके, इसे समझने और फिर उसे संयोजित करने के लिए बड़े कौशल की आवश्यकता होती है। संगीत को इस रूप में शंकर के पूर्व न तो किसी ने देखा था और न किसी ने उसका इतना महत्व ही आँका था। शंकर ने नृत्य संयोजना के साथ ही साथ संगीत रचनाओं की आवश्यकता पर पूरा बल दिया। अपनी नृत्य रचनाओं को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने देश के मान्य संगीत कलाकारों को निमंत्रित किया। प्रसिद्ध उस्ताद अलाउद्दीन खाँ की बहुमुखी प्रतिभा ने उदयशंकर के नृत्यों को जितना जीवंत बनाया, वह किसी से छिपा नहीं। उदयशंकर के अनुज रविशंकर की प्रतिभा का विकास शंकर के नृत्यों के ही माध्यम से हुआ। रविशंकर की अनेक बहुचर्चित रचनाओं के पीछे वही लयात्मकता और गतिमयता डोलती है जो शंकर के नृत्यों में दीखती है। इसी प्रकार 'शिराली' (विष्णुदास) ने भी अपने संगीत से शंकर के नृत्यों को अधिक रोचक और धनी बनाया। संगीत और नृत्य के इस अपूर्व गठबन्धन को जो अभूतपूर्व सफलता मिली, वह भारतीय नृत्य कला के इतिहास में एक गौरवपूर्ण पृष्ठ है।

उदय शंकर ने अपनी सभी नृत्य रचनाओं को भारतीय वाद्यों पर ही आधारित किया। विदेशी वाद्यों का बिना प्रयोग किये, स्वरों का वांछित प्रभाव स्थापित कर ले जाना, एक दुस्तर कार्य था। इसके लिए कहीं-कहीं तो अति प्राचीन वाद्यों का आश्रय लेना पड़ा। तुरही, डप, मृदंग, मुरचंग, गोपीजंत्र, घण्टे, शंख तथा अन्य इसी प्रकार के वाद्यों के सहारे नाद का वह रूप प्राप्त किया गया जो नृत्य की पूर्ण भाव-पीठिका प्रस्तुत कर सकने में सक्षम थे।

मात्र संगीत का आधार ही शंकर ने नहीं ग्रहण किया। उन्होंने मंच और प्रकाश-व्यवस्था की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया है। मंच पर किस प्रकार उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करने के लिए सज्जा की जाये, इसके प्रति भी उनकी कला सजग थी। इसकी सीमा यहाँ तक थी कि उनके साथ बैठकर वाद्य-वृन्दों का संचालन करने वाले कलाकारों को भी अपना पूर्ण 'मेअकप' करना पड़ता था। इस प्रकार मंच पर वह नाटकीय वातावरण अपने आप छा जाता था जिसकी पीठिका में नृत्यकार रस सृष्टि करने के लिए उतरता था। भावों के आन्दोलनों के साथ साम्य उपस्थित करने के लिए नृत्य में प्रकाश-व्यवस्था की ओर ध्यान आकर्षित करने में भी उदयशंकर का प्रमुख स्थान है। रसों की मूल स्थापनाओं के साथ प्रकाश का रंगारंग धूप-छाँहीं खेल दर्शकों के मन पर अनजाने ही उन रसों की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होता। आज इस प्रकाश-व्यवस्था का मूल्य नृत्य-संसार में हर नर्तक आँकता है। प्रकाश की छाया के माध्यम से उदयशंकर ने ही सर्वप्रथम छाया-नृत्यों की योजना प्रस्तुत की। इन छायानृत्यों की 'आधुनिक टेकनीक' के प्रयोगों से, ऐसे बहुत से दृश्य मंच पर दिखाना सम्भव हो गये जो अन्यथा दुःसाध्य थे। 'रामलीला' का छायानृत्य (बैले) इस दिशा में शंकर की एक महत्वपूर्ण नृत्य-संयोजना है।

जैसा कि संकेत कर चुके हैं, शंकर ने उद्देश्य अभीष्ट और पूर्ण रस-सृष्टि की ओर ही अधिक ध्यान दिया है। विभिन्न धाराओं की नृत्य-शैलियों में उन्हें जो कुछ, जहाँ भी रुचिकर लगा, वह सब उनके नृत्य अभिनयों में समाहित हो गया। उसे देखकर यह कहना बहुत कठिन है कि इसमें कितना अंश कत्थक का है और कितना कथाकली का; कितना भरत-नाट्यम का है और कितना

मणिपुरी का। जो नृत्य-पारखी आलोचक नृत्य को टुकड़ों में बाँटकर इस प्रकार विभिन्न नृत्य प्रणालियों की शास्त्र-सम्मत-व्याख्या की कसौटी पर कलाकार की कला को कसते हैं, उनके लिए उदयशंकर की कला सदैव एक ऊपरी तड़क-भड़क वाली प्रदर्शन मात्र सिद्ध होगी। पर जो रस को उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण करना चाहते हैं, उनके लिए शंकर की कला उच्चतम शिखरों को स्पर्श करती लगती है। अपनी इस विशिष्ट नृत्य-प्रणाली को अधिक लोकग्राही बनाने के लिये उन्होंने अनेक लोक-नृत्यों की गतिमयता एवं मुद्राभिनय ज्यों के त्यों उठा लिए और उन्हें प्रभविष्णु बनाने के लिए लोक संगीत की धुनों को भी यथाशक्ति प्रयुक्त किया। स्वभाव से विनयी और कर्मठ शंकर ने अपनी कला को जिस मानवीय स्तर की चेतना से अलंकृत किया है वह निश्चित ही इस दिशा में एक ऐतिहासिक मोड़ है।

शंकर ने इस कला के प्रचार के लिए उत्तर प्रदेश के अलमोड़ा नामक स्थान में, हिमालय की छाया में एक कला केन्द्र की स्थापना की। इस कला-केन्द्र में उदयशंकर से नृत्य सीखने के लिए देश-विदेश के छात्र एकत्र हुये थे। काफी दिनों तक केन्द्र बड़ी व्यवस्था और प्रसिद्धि के साथ चलता रहा। किन्तु आगे चलकर इस केन्द्र की व्यवस्था में कई व्यवधान उपस्थित हुए। जिन आदर्शों की पूर्ति के लिए केन्द्र चलता गया था, वस्तुतः जब वही टूटने लगे तो उदयशंकर ने केन्द्र को स्थगित कर देना ही श्रेयस्कर समझा। इस केन्द्र के इस प्रकार बन्द हो जाने से उदयशंकर के कलाकार हृदय को तो ठेस पहुँची ही उनकी प्रतिष्ठा पर भी आँच आ गई।

उसकी क्षतिपूर्ति करने के लिए तथा केन्द्र के लिए फिर से द्रव्य जुटाने के उद्देश्य से शंकर ने 'कल्पना' नामक फिल्म का निर्माण किया, जो प्राकारान्तर से स्वयं शंकर के जीवन-चरित पर ही आधारित थी। इस चित्र में उदयशंकर की अधिकांश नृत्य-रचनाएँ दिखाई गई हैं। इस चित्र के निर्माण में उदयशंकर ने बहुत पैसा लगाया। अन्य सहयोगी कलाकारों को आमंत्रित किया जिनमें हिन्दी के यशस्वी कवि पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त भी थे। किन्तु दुर्भाग्य ने उदयशंकर का साथ नहीं छोड़ा। जितना पैसा लगाकर

उन्होंने फिल्म तैयार किया था, लगभग सारा का सारा डूब गया। सस्ते ढंग के चित्र देखने की अभ्यासी 'चवन्नियाँ क्लास' जनता इस चित्र के प्रति न्याय न कर सकी और फलस्वरूप उदयशंकर की सारी आशाओं पर तुषारापात हो गया।

भारत के स्वतन्त्र हो जाने के बाद उदयशंकर को कला के क्षेत्र में कुछ क्रान्तिकारी प्रयोग करने की आकांक्षा थी, पर कुछ कारणों से शायद उनकी आशाएँ वहाँ भी पूरी नहीं हुईं। इधर वे फिर विदेश का दौरा करने गये हैं। सम्भवतः द्रव्य का अभाव दूर हो जाये पर वे फिर स्वतंत्र भारत के सांस्कृतिक आन्दोलन को नया स्वर दे सकेंगे, यह अभी संदिग्ध ही है। ● ● ●

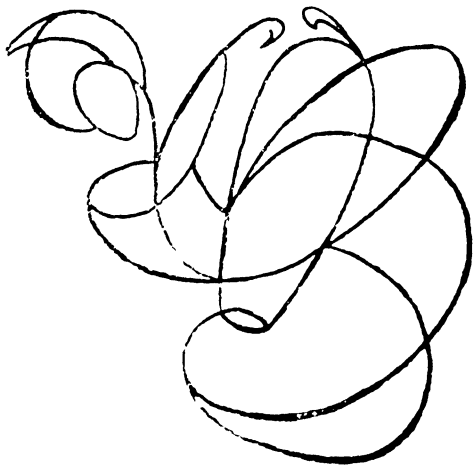

बाला सरस्वती

●

दक्षिण-भारत अपनी रूढ़ियों और परम्पराओं को सँजोये रखने के लिये प्रसिद्ध है। जातिगत, धर्मगत, संस्कारगत अनेक परम्पराएँ विभिन्न रूपों में परिलक्षित होती हैं। मन्दिरों में नृत्य करने वाली देवदासियों की भी ऐसी ही रूढ़ परम्परा है। मन्दिरों में कृष्णार्पण हो जाने वाली ये देवदासियाँ समाज की वे अंश थीं जहाँ धर्मभीरु प्राणी अपना मनोरंजन पाता था। ये देव-दासियाँ संगीत शास्त्र की विदुषी हुआ करती थीं और रस के मूल भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रख्यात थीं। वैभव और विलासिता के वातावरण में देव-दासियों का संस्थान भी दूषित हुआ। पतन की ओर यह स्खलन इतनी

तीव्रता से हुआ कि अधिकांश देवदासियाँ मात्र वासना का पूर्त्ति की समानार्थी समझी जाने लगीं।

सामाजिक वातावरण में अभिशप्त हो जाने पर भी सभी देवदासियाँ मात्र उसी सस्तेपन में नहीं डूबीं। सशक्त व्यक्तित्व की देव-दासियाँ अपनी परम्परा-गत नृत्य-शैली, नियम-निर्वाह और मान्यताओं को पकड़े रहीं और अपने जीवन को उस कटु वातावरण में भी सम्हाले रहीं। वस्तुतः कला अपने सही स्वरूप में उसी क्षेत्र में जीवंत बनी रही। उनके आवास संगीत की लहरों पर डोलते रहे और उनका निजी जीवन धूप-दीप की ऋजुता से भरा-पुरा रहा। बाला सरस्वती इसी ढंग के एक परिवार में जन्मी और बढ़ी। बाला सरस्वती की नानी वीणाधनम् अत्यन्त प्रसिद्ध संगीतज्ञ थीं और दक्षिण भारत में उनका नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता रहा है। कर्नाटक संगीत की उच्चतम उपलब्धियाँ आज भी इस परिवार में उसी सहजता के साथ दिखाई पड़ जाती हैं। स्वयं बाला सरस्वती नर्तकी के रूप में जितनी विख्यात है, उसकी संगीत कला भी उतनी ही उच्चकोटि की है।

भरत-नाट्यम के अन्य सभी कलाकारों की अपेक्षा बाला सरस्वती को जिस वातावरण की जन्मजात अनुभूति मिली है वह उसे दूसरों से सर्वथा भिन्न कोटि में रख देती है। अपनी नृत्य-शैली के प्रति उसका परम्परागत आग्रह निश्चय ही उसे उस 'क्लासिकल एप्रोच' की ओर खींचता है जो दूसरे नर्तकों या नर्तकियों में दुर्लभ है। बाला सरस्वती की उस कला में एक सोद्देश्यता के दर्शन होते हैं।

बाला सरस्वती की मुद्राएँ, आन्दोलन, गतियाँ और पद-संचालन अद्भुत हैं। उनकी त्वरित अभिव्यक्तियाँ और भाव-विह्वल प्रेक्षणीयता किसी भी कलाकार के लिए ईर्ष्या की वस्तु बन जाती हैं। शरीर की मार्दवता और नेत्रों की परिचालना सारी नृत्य प्रक्रिया को सीमातीत अलौकिक प्रदेशों में बरबस ही खींच लेती है। बाला सरस्वती के नृत्य की यही विशेषता है।

अन्य श्रेष्ठ कलाकारों की भाँति बाला सरस्वती भी अपने 'मूड' की कला-कार है। जब वह अपने पूर्ण 'मूड' में होती है, उस समय वह इस कला के

जिन शिखरों को छू लेती है, वह अन्य साधारण नृत्य-प्रदर्शनों में सम्भव नहीं रहता। बाला सरस्वती के इस 'मूड' को जागृत करने में दर्शकों का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है। यदि दर्शक रसग्राही हुए, और कला के प्रति उनकी सजग अनुरक्ति हुई तो बाला सरस्वती की कला चन्द्रमा के समान विकसित ही होती चली जाती है। किन्तु जब कभी दर्शकों में उन लोगों की संख्या अधिक हो जाती है जो मात्र फैशन के लिए ही 'नाच देखने' के लिए आते हैं तो बाला पर इसका उल्टा प्रभाव होते भी देखा जा सकता है।

दक्षिण की इस नर्तकी को अपने बारे में सही धारणा है कि वह सर्वश्रेष्ठ नर्तकी है। इस कारण वह अपने उन तथाकथित संरक्षकों और फ़ैशनपरस्त लोगों की अधिक परवाह भी नहीं करती है। शायद यही धारणा उसके व्यक्तित्व को इस ढंग का बनाने में बहुत सीमा तक सहायक हुई है।

बाला सरस्वती के नृत्य में अभिनय अंश बहुत सफल रहता है। जिस आग्रह, भावपूर्ण मुद्राओं और रसानुभूति के साथ बाला अपने अभिनय अंग से नृत्य के विषय वस्तु को प्रस्तुत करती है, उसमें सदा एक ताज़गी दिखाई पड़ती है। शरीर पर मांस कुछ अधिक चढ़ जाने के कारण बाला सरस्वती 'नृत्य' अंश को उतने रोचक ढंग से नहीं उतार पाती और न उसके प्रति पूर्ण न्याय ही कर पाती है। पर इससे सम्पूर्ण नृत्य-रचना के रस में कहीं कुछ अभाव नहीं रह पाता। बाला सरस्वती का यही कौशल है।

भारत के विभिन्न भागों में इस नर्तकी का सम्मान किया जा चुका है और अपने क्षेत्र में अकेली होने का उसे गौरव मिल चुका है। उसके नृत्य प्रदर्शनों को देखने के लिए आज भी हजारों की संख्या में लोग उमड़ पड़ते हैं। थियेटर हालों में लोगों को जगह न मिलने के कारण निराश लौटना पड़ता है। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि उसके प्रशंसकों की संख्या में निरन्तर बढ़ती ही होती जा रही है। ● ● ●

गोपीनाथ

●

कथाकली नृत्य-शैली को देश में एक मान्य नृत्य-शैली का रूप देने के लिये और उसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप सम्मान प्राप्त करवाने में ट्रावणकोर के नर्तक गोपीनाथ का उल्लेखनीय श्रेय है। कथाकली नृत्य एक सीमित घेरे के भीतर बँध गया था। उस घेरे को तोड़कर उसे सर्वथा मोहक और रोचक रूप देने के लिये गोपीनाथ काफी अंशों में उत्तरदायी माने जाते हैं।

गोपीनाथ की आरम्भिक दीक्षा ट्रावणकोर में ही अपने बड़े भाई के हाथों प्रारम्भ हुई। कथाकली नृत्य में ट्रावणकोर और कोचीन दो प्रमुख शैलियाँ हैं। क्षेत्रों का अन्तर होने के कारण दोनों में आपसी वैमनस्य और ईर्ष्या की भावना

की भी कमी नहीं है। एक-दूसरे को नीचा समझना, कला के क्षेत्र में नौसिखिया समझना, सहज स्वाभाविक था। महाकवि वल्लातोल द्वारा संचालित 'केरल कलामण्डलम्' ने कथाकली नृत्य को शास्त्रीय शिक्षा देने में अत्यन्त सुनियोजित केन्द्र का कार्य किया। कथाकली शैली के अन्य नर्तक माधवन्, कृष्णन् आदि उसी कलामण्डलम् की देन हैं। गोपीनाथ ने भी केरल कलामण्डलम् में कोचीन शैली सीखने के लिए यत्न किया। यद्यपि केरल कलामण्डलम् में उन्हें जिस ढंग का व्यवहार अपने ट्रावणकोरी होने के नाते मिला, उसने उनकी कला को उस स्थान पर एक क्षण को हतोत्साह ही किया होगा। किन्तु गोपीनाथ बड़ी तीक्ष्ण बुद्धि के व्यक्ति हैं। कला की सारी सम्पूर्णता वह जिस प्रकार अपने में सँजोते चले गये, उसका चमत्कार आज हमें देखने को मिलता है। छोटे-मोटे आपसी वैमनस्यों और झगड़ों में न पड़कर वह भरसक जो कुछ भी सामग्री एकत्र कर सके, करते ही रहे।

उसी स्थान पर गोपीनाथ की भेंट रागिनी देवी से हुई। रागिनी भी उस समय कथाकली सीखने के लिए कलामण्डलम् में ही थीं। गोपीनाथ की नृत्य-शैली से वे बहुत प्रभावित थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि रागिनी देवी ने जब बम्बई में अपने नृत्य-प्रदर्शन की योजना बनाई तो उसमें उसने पहिली बार गोपीनाथ को जनसमूह के समक्ष प्रस्तुत किया। कथाकली नृत्य जो अत्यन्त लम्बी-लम्बी अवधियों के लिए परम्परागत ढंग से चला करता था, उसे इन आधुनिक कलाकारों ने पहिली बार छोटी-छोटी नृत्य योजनाओं में तोड़कर प्रस्तुत किया। लम्बी कथाओं के छोटे-छोटे अंश इन नई नृत्ययोजनाओं के विषय वस्तु बन गये। यद्यपि कथाकली को इस ढंग से तोड़कर प्रस्तुत करने पर उसकी सफलता के विषय में सभी लोग शंकालु थे किन्तु फिर भी दर्शकों की मनोवृत्ति समझकर वैसा यत्न किया गया और अभूतपूर्व सफलता मिली।

गोपीनाथ राजनर्तक के रूप में यथेष्ट सम्मानित रहे। अनेक राजदरबारों में उनकी प्रसिद्धि थी और सदा माँग बनी रहती थी। मद्रास की संगीत अकादमी के उत्सवों में भी गोपीनाथ ने बहुत नाम कमाया। अब तो देश के प्रायः

सभी भागों में गोपीनाथ की प्रसिद्धि है। उनकी अपनी नृत्य-रचना 'शिव पार्वती' और 'शिकारी नृत्य' बहुत लोकप्रिय हैं।

कथाकली नृत्य के शिक्षक के रूप में भी गोपीनाथ की अपनी देन है। त्रिवेन्द्रम में उनकी शिक्षा-संस्था में बहुत से छात्र बड़ी दूर-दूर से शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते रहते हैं। नृत्य की शिक्षा में अनुशासन को सबसे अधिक महत्व देने के लिए गोपीनाथ अब भी प्रमुख रूप से जाने जाते हैं। चूक होने पर कड़ी से कड़ी सज़ा देने में शिक्षक गोपीनाथ कभी नहीं हिचकते। जितने मनोयोग और रुचि के साथ गोपीनाथ अपने शिष्यों की दीक्षा में अपना समय लगाते हैं, वह निरन्तर उनकी संख्या में कड़े दण्ड के भय के बावजूद वृद्धि ही करता रहा है। गोपीनाथ के शिष्यों में कुछ ऐसे कर्मठ और लगन के व्यक्ति हैं जिनसे भविष्य के लिए बहुत कुछ आशा की जा सकती है।

गोपीनाथ की कला और व्यक्तित्व में उनकी पत्नी थंकमणि ने बड़ा योग दिया। 'मोहिनी अत्तम' नृत्य-शैली में वह पटु है। विवाह के पश्चात् जिस प्रकार वह अपने पति के साथ नृत्य-प्रदर्शनों में मंच पर उतरती रही है। उसमें उसे सदा प्रशंसा ही मिली है।

अपने बाल्यकाल से ही गोपीनाथ की आकाँक्षा थी कि वह अपनी मातृ-भूमि के महान् नृत्य-नाट्य कथाकली में पारंगत होकर उसका प्रचार कर सके और उसकी महती शक्ति से सबको परिचित करा सके। इस दिशा में गोपीनाथ ने जो कुछ कार्य किया है वह न केवल उनके अपने गौरव में योग देता है वरन् कथाकली की रोचकता में भी नई कड़ियाँ जोड़ता है। ● ● ●

श्रीमती रुक्मिणी देवी अरुण्डेल

भारत के सांस्कृतिक आन्दोलन में भाग लेने वालों में श्रीमती रुक्मिणी देवी अरुण्डेल का नाम प्रमुख रूप में आता है। जितने स्तरों पर उन्होंने सहज और समान रूप से कार्य किया था वह हर एक के लिए आश्चर्य की वस्तु थी। परम्परागत कलाओं का सम्यक विकास हो सके, इसके लिए रुक्मिणी देवी के श्रम और यत्न बड़े ही महत्वपूर्ण हैं।

दक्षिण भारत के तंजौर नामक स्थान में जन्म लेने के कारण सहज ही नृत्य की ओर रुक्मिणी देवी की रुझान रही है। इनकी प्रारम्भिक नृत्य-शिक्षा-दीक्षा दक्षिण के प्रसिद्ध नृत्य विशारद पंडनाल्लुर मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्ले द्वारा

हुई। सुदृढ़ नींव पड़ने का जितना स्पष्ट लाभ रुक्मिणी देवी को हुआ उतना दूसरे कलाकारों के जीवन में नहीं दिखाई पड़ता। दक्षिण-भारत ने भरत-नाट्यम् के जिन महान् अंशों को अपने भीतर सँजो रक्खा है उसके अनेकानेक स्तर रुक्मिणी देवी के नृत्य प्रदर्शनों में उभरते रहे। ताल, स्वर और पद-संचालन का अत्यन्त सहज समन्वय रुक्मिणी देवी के नृत्य की विशेषता बन गई।

अपने क्षेत्र में न केवल रुक्मिणी देवी को बड़े मनोयोग से सीखना ही पड़ा वरन् उतने ही श्रम और लगन के साथ उस कला की आत्मा को अपने पद-संचालन एवं आंगिक अभिनयों से नवीन रूप भी देना पड़ा। रुक्मिणी देवी की कला में सौष्ठवपूर्ण रसोद्वेग का वातावरण उतर आता था। उनकी इस रसमयता के पीछे उनकी अपनी स्वयं अनुभूति की अभिव्यक्ति थी जो न केवल उनकी कला को मौलिकता प्रदान करती थी वरन् वह हर दर्शक को उस भावावेश में अपने साथ खींच ले जाती थी। अपनी मौलिकता की अभिव्यक्ति के लिए ही रुक्मिणी देवी ने भरत-नाट्यम् का माध्यम चुना जिसके द्वारा वे अनेक भावों और रसों की सृष्टि कर सकती थीं। किसी नृत्य-कला-पारखी ने रुक्मिणी देवी की कला के विषय में कहा है कि जब वे मंच पर अपना नृत्य-प्रदर्शन करतीं थीं तो बार-बार ऐसा लगता था कि जैसे भाव और रसों की लुका-छिपी का खेल कलाकार के मुख पर ही नाच रहा है। मंच पर कलाकार की लयात्मकता जब जागृत हो उठती थी तो यह कहना कठिन हो जाता था कि उस सम्पूर्ण नृत्य संयोजना में कितना अंश परम्परागत नृत्य का है और कितना अंश उसकी सहज अनुभूत भावनाओं का। दोनों एक-दूसरे के इस प्रकार पूरक होकर खिलते थे कि दोनों का विलगीकरण अनेक कलापारखियों के लिए प्रायः कठिन समस्या बन जाया करती थी। मानवीय शरीर से इतनी विभिन्न प्रकार की मुद्राओं और भावनाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति हो सकती है यह विस्मय का विषय था। रुक्मिणी देवी की मुद्राओं में 'नटराज' की मुद्रा अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसमें कलाकार नटराज की बहुचर्चित काँस्यमूर्त्ति के सम्पूर्ण मुद्राभिनय को उसी सौष्ठव के साथ मंच पर उतार देती है। भरत-नाट्यम् के दूसरे कितने ही कलाकारों के लिए वह मुद्रा आज भी एक प्रेरणा है।

रुक्मिणी देवी ने नृत्य को भारत की साँस्कृतिक परम्परा की एक महत्व-पूर्ण कड़ी के रूप में देखा है, और उसे जीवन की सम्पूर्णता की एक अभिव्यक्ति माना है। वे अब स्वयं नृत्य-प्रदर्शनों में भाग नहीं लेतीं, किन्तु उनके कला-क्षेत्र के अनेक कलाकार रुक्मिणी देवी के आदर्शों की पूर्ति कर सकेंगे, इसमें सन्देह नहीं है।

उन पर 'थियासफ़ी' का भी काफ़ी प्रभाव पड़ा है, और उसने उनकी कलाप्रियता पर भी अपनी छाप छोड़ी है। रुक्मिणी देवी का जीवन ही साहस से भरा रहा है। तमाम विरोधों की उपेक्षा करके उन्होंने डा० अरुण्डेल नामक विदेशी से विवाह किया। डा० अरुण्डेल स्वयं भी बड़े कलाप्रेमी थे और रुक्मिणी देवी के व्यक्तित्व के विकास में बड़े सहायक रहे। उनकी मृत्यु हो जाने से रुक्मिणी देवी को बड़ा धक्का लगा। किन्तु मानवीय कलात्मक अभिव्यक्ति के प्रति उनकी आस्था ने उनको अनेक संकटों का सामना करने के लिए सदा ही शक्ति दी। ● ● ●

श्रीमती शान्ता

●

भारतीय नृत्यों के पारखी जो भरत-नाट्यम से रुचि रखते हैं, उनके लिए श्रीमती शान्ता के नृत्य निरंतर 'क्रेज़' हैं। भरत-नाट्यम की रोचकता के प्रति लोगों में नयी चेतना जगाने के लिये शान्ता के यत्न जितने क्रियाशील रहे हैं, वस्तुतः अन्य किसी दूसरे कलाकार में वह लगन नहीं दीख पड़ती।

शान्ता का जन्म बम्बई के एक सम्भ्रान्त परिवार में हुआ। माता-पिता इस लड़की की उन्नति में न केवल व्यवधान नहीं पहुँचाना चाहते थे वरन् वे निश्चित रूप से सहायक सिद्ध होना चाहते थे। शान्ता के घर का स्वतंत्र वातावरण उसे अपने लिए सही दिशा चुनने में प्रेरित कर सका। शान्ता और

उसके शुभेच्छुकों की राय थी कि वह स्कूली पढ़ाई में अधिक समय बरबाद न करके नृत्य की शिक्षा प्राप्त करे।

सबसे पहले शान्ता कोचीन राज्य के 'केरल कलामण्डलम्' में नृत्य की शिक्षा प्राप्त करने के लिए गई। कवि वल्लातोल की यह नृत्य-दीक्षा-संस्था, भारत में कथाकली नृत्य के लिए खासी प्रसिद्ध हो चुकी थी। 'केरल-कला-मण्डलम्' में कथाकली कला की दीक्षा देने वाले पटुशिक्षक, भारत के कई अच्छे नर्तकों के लिए आकर्षण केन्द्र बने हुए थे। शान्ता को रावुन्नी मेनन से कथाकली की शिक्षा मिली। नृत्य को एक सहज फैशन की वस्तु शान्ता ने कभी नहीं समझा इसीलिए उसने कथाकली नृत्य के सहज पद-संचालन और भाव-भंगिमाओं की अपेक्षा कठिन से कठिनतम नृत्य-मुद्राओं और रस-भावों को पूर्ण मनोयोग से सीखा। शान्ता द्वारा प्रदर्शित 'दुःशासन संहार' इस दिशा में उसका चमत्कारिक नृत्य माना जाता रहा है।

केवल कथाकली सीखकर ही शान्ता को संतोष नहीं हुआ। उसने दक्षिण भारत का 'मोहिनी अत्तम' नामक लस्य नृत्य भी सीखा। नृत्य-विशारदों की सभा में उसने अनेक बार सबसे प्रशंसा प्राप्त की है। इसी प्रकार कुछ समय लंका में बिताकर वहाँ के नृत्य सीखे और यश अर्जित किया। कत्थक नृत्य भी शान्ता को प्रिय रहा और इस दिशा में उसने काफी श्रम किया।

नृत्य की इतनी विविध शाखाओं को पूर्ण-रूप से अपनी कलात्मक अभि-व्यक्ति का अंग बना लेने पर भी शान्ता की तृष्णा शान्त नहीं हुई। प्रसिद्ध विद्वान् मीनाक्षी सुन्दरम पिल्ले से भरत-नाट्यम सीखने की आकांक्षा प्रारम्भ से ही उसके कलाकार-हृदय में बसी हुई थी। उसने कई बार उनके पास जाकर भरत नाट्यम सीखने की चेष्टा की पर श्री पिल्ले के पास समय और रिक्त स्थान न होने के कारण शान्ता की अभिलाषा पूरी न हो सकी।

किन्तु अंततोगत्वा उसकी यह आशंक्षा भी पूरी हुई। नृत्य सीखने के लिए उसे श्री पिल्ले के ग्राम पंडनाल्लुर जाकर रहना पड़ा। शहर के—वह भी बम्बई शहर के—वातावरण में पली हुई शान्ता को गाँव जाकर रहने में जिस मानसिक उलझन का सामना करना पड़ा होगा, उसे स्पष्ट ही समझा

जा सकता है। किन्तु फिर भी इस कठिनाई से वह तनिक भी विचलित नहीं हुई। वहीं श्री पिल्ले के घर में उसने एक कमरे में अपना अड्डा जमा कर अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। जो कुछ उसने प्राप्त किया है, वह आज किसी से गोपनीय नहीं है। कला अपने किन शिखरों को सहज ही छू लेती है, इसे शान्ता की नृत्य संयोजना में देखा जा सकता है। सम्पूर्ण नृत्य-संयोजना में जितने वर्णम्, शब्दम्, तिल्लाना, जेथी स्वरम्, आदि शान्ता प्रदर्शित करती है, वह किसी भी कलाकार के लिये गौरव की वस्तु हो सकती है। विभिन्न संगीत उत्सवों में तथा स्वतंत्र रूप से शान्ता के ये प्रदर्शन सर्वत्र प्रशंसा के भागी रहे हैं।

इस प्रकार इस नर्तकी ने नृत्य की विभिन्न शिक्षाएँ प्राप्त करके जिस अभूतपूर्व परिश्रम और लगन का परिचय दिया है, वह अनेक छात्रों के लिए प्रेरणा केन्द्र बन गया। शान्ता ने अपनी कला को सर्वोच्च सम्मान और प्रतिष्ठा स्वयं दी। उसने कभी पैसे के लिए उसे बेचकर समझौता नहीं किया। कला की उस पवित्रता को सदा की भाँति उज्वल और अकलंकित रहने देने के लिए उसने अपनी उन समस्त सुख-सुविधाओं का त्याग कर दिया जो उसे कहीं न कहीं समझौता करने के लिए बाध्य कर देती।

अपनी कला के प्रति उसका यही निष्ठापूर्ण दायित्व उसे अन्य कलाकारों से सर्वथा पृथक कर देता है। ● ● ●

झावेरी बहनें

●

मणिपुरी नृत्यों के शास्त्रीय पक्ष को मोहक एवं सक्षम ढंग से प्रस्तुत करने के लिए झावेरी बहनों का नाम लोकप्रिय हो रहा है। मणिपुर में चैतन्य महाप्रभु के कारण वैष्णव धर्म का इतना प्रचार हुआ कि वैष्णवता वहाँ की संस्कृति का एक प्रधान अंग बन गई। उसकी सबसे सरस अभिव्यक्ति मणिपुरी रासलीला में हुई है जिसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है। रासलीला मणिपुरी नृत्य के शास्त्रीय पक्ष को प्रस्तुत करती है।

झावेरी बहनों ने मणिपुरी नृत्य के इसी पक्ष को अपनाया है। बम्बई में रहने और मणिपुर के नृत्यों में इतनी अभिरुचि होने पर भी वे शायद इसकी

सफलतापूर्वक अभिव्यक्ति न कर पातीं यदि उन्हें एक योग्य शिक्षक के रूप में विपिन सिनहा का सहयोग न मिला होता। श्री विपिन सिनहा मणिपुरी नृत्यों के न केवल योग्य शिक्षक हैं, उनके ज्ञान का विस्तार एवं नृत्य-रचनाओं की क्षमता भी विशिष्ट है।

झावेरी बहनें चार हैं—श्रीमती नयना झावेरी, श्रीमती रंजना झावेरी, कुमारी सुवर्ण झावेरी और दर्शना झावेरी। इन सब में श्रीमती नयना झावेरी सबसे बड़ी हैं और पूरे दल की वे ही संचालिका हैं। झावेरी बहनों ने जिस मनोयोग के साथ रासलीला नृत्य के विभिन्न पक्षों को अधिकारिक ढंग से अभ्यास के पश्चात् प्रदर्शित किया है, वह उनके श्रम का कुछ आभास देता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने कई बार अपने पूरे दल के साथ सुदूर मणिपुर का भ्रमण भी किया। वहाँ के विशेषज्ञों से उन्होंने इस लुप्त नृत्य-कला के विषय में पड़ताल की। जितना कुछ उनसे सीखा जा सका, उन्होंने उसे अपने नृत्यों में उतारा और मणिपुर के बृहत्नृत्य-आयोजनों में अपने प्रदर्शनों द्वारा उनसे प्रशंसा प्राप्त की।

मणिपुरी नृत्यों की आंगिक अभिनय की विशेषता मणिपुरी बहनों को बहुत रुची और उसे उन्होंने अपनी नृत्य-भंगिमाओं में जीवंत किया है। संपूर्ण शरीर की गतिमयता को वंशी और खोल की लय पर समर्पित कर देने की जो भावना मणिपुर की इन नृत्य-लीलाओं की विशेषता है, वह सहज ही झावेरी बहनों की भंगिमाओं में दिखाई पड़ जाती है।

श्रीमती नयना ने मेरे एक प्रश्न के उत्तर में एक बार कहा था कि उन्होंने अन्य नृत्य प्रणालियों को छोड़कर मणिपुरी इसलिए अपनाया क्योंकि उन्हें इस नृत्य के माध्यम से अपनी भक्ति-प्रधान भावनाओं की अभिव्यक्ति में बड़ी सहायता मिलती है। दूसरे यह कि मणिपुरी नृत्य की आत्मा अत्यन्त सुकुमार है और मृदु है जो पवित्र भावनाओं को मूर्त करने में योग देती है। राधा और कृष्ण की प्रेम लीलाओं की अभिव्यक्ति से मानवीय भावनाओं का जैसा उदात्तीकरण सहज ही सम्भव है वैसा दूसरी नृत्य-शैली के आधार पर चलकर नहीं हो सकता।

झावेरी बहनों ने अपने नृत्य-प्रदर्शनों को आधुनिक ढंग से मंच पर प्रस्तुत करने तथा उसे लोकप्रिय बनाने में कई दिशा में कार्य किया है। सम्पूर्ण रास-लीला की लम्बी अवधि को घटा कर उन्होंने छोटी-छोटी रचनाओं में बाँट दिया है जिससे उनकी मोहकता बढ़ जाती है और दर्शक नये दृश्य की जिज्ञासा और कौतूहल में झूलता चलता है। झावेरी बहनों के नृत्य-प्रदर्शनों में 'नर्तन-क्रीड़ा', 'खण्डिता', 'रासलीला वर्णन', 'कृष्ण-रूप वर्णन', 'अभिसार' और 'शुक-सारी द्वन्द्व' प्रमुख रचनाएँ हैं। 'शुक सारी द्वन्द्व' नामक नृत्य रचना में शुक और सारिका कृष्ण और राधा के उलाहनों को लेकर परस्पर विवाद करते हैं। शुक कृष्ण की प्रतिभा, मोहकता, कला-कारिता और आकर्षणों पर बल देता है, सारिका कृष्ण की सारी उपलब्धियाँ राधा की देन बतातीं है। इस प्रकार राधा और कृष्ण की प्रेम लीलाओं की व्याजस्तुति प्रस्तुत होती है। इस नृत्य को नयना झावेरी अकेले ही अपनी समस्त भाव-भंगिमाओं के माध्यम से प्रस्तुत करती हैं। झावेरी बहनों के नृत्य-प्रदर्शनों में यह विशिष्ट रचना है। इनके अतिरिक्त समय-समय पर बम्बई के थियेटरों में झावेरी बहनों ने दूसरे 'ऑपेरा' नृत्य-नाट्यों को भी सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया है जिनमें 'गीत गोविन्दम्' प्रमुख हैं।

झावेरी बहनों ने देश के प्रमुख नगरों में अपने नृत्य-प्रदर्शन किये हैं और उनके लिए मान्य कला-पारखियों से प्रशंसा प्राप्त की है। श्रीमती नयना झावेरी ने मणिपुरी नृत्यों का प्रदर्शन पेरिस, लन्दन और ब्रुसेल्स में भी सफलतापूर्वक किया है।

यद्यपि मणिपुरी नृत्यों के इस पक्ष को सबल रूप से प्रचारित करने वाली ये झावेरी बहनें अपने क्षेत्र में सर्वथा अकेली हैं किन्तु उनकी कला अभी पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकी है। उनकी कला पर अभी उनके व्यक्तित्व की छाप नहीं लगी है जो हर कलाकार को विशिष्ट और महान् बनाती है। इस कारण झावेरी बहनों की गणना उन महत्वपूर्ण प्रतिभाशाली कलाकारों की कोटि में में अभी नहीं की जा सकती जो नृत्य-संसार में मान्य हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि यदि झावेरी बहनों में यही लगन बनी रही तो उनका भविष्य

निश्चित है। अभी तक तो वे अपने आपको मणिपुरी नृत्यों का प्रचारक समझती हैं। सफल एवं महान् नर्तकी होने के लिए उन्हें उस कला की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनना होगा। इस दिशा में झावेरी बहनें अब सक्रिय भी हो रही हैं। ● ● ●

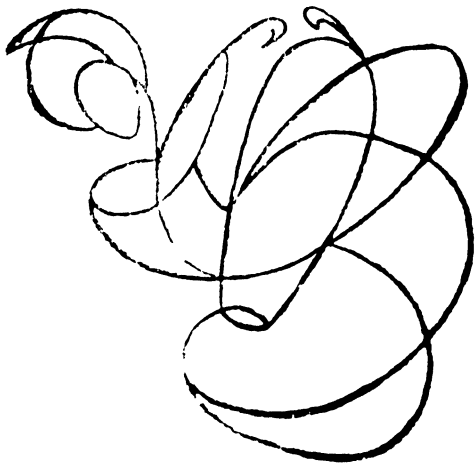

मणिपुरी रासलीला

कृष्णभक्त वैष्णव-सम्प्रदाय में रासलीला का विशिष्ट महत्व है। जीव का ब्रह्म से विछोह और इस अनन्त विछोह को साधना से काटकर पुनः उसी ब्रह्म में तिरोहित होने का आग्रह प्रदर्शित करना इसका मूल उद्देश्य रहा है। रास-लीला में गोपिकाएँ बिछुड़ी हुई आत्माओं का प्रतिनिधित्व करती हैं जो अपने मूल में—परमात्मा में—मिलने के लिए विकल हैं और उसके प्रति सम्पूर्ण समर्पण की भावना से नृत्य करती हैं। अन्ततः वे अपनी साधना में सफल होती हैं। कृष्ण की मुरली की ध्वनि सुनकर—परमात्मा का आवाहन सुन-कर—वे सब-कुछ बिसराकर उसकी ओर दौड़ पड़ती हैं। राधा आत्मा की

उदात्त भावनाओं के समर्पण का प्रतिनिधित्व करती है। वैष्णवी भक्तिधारा के साथ-साथ रासलीला की यह माधुरी भी भारत के विभिन्न भागों में प्रवाहित हुई।

गौरांग महाप्रभु चैतन्य के आविर्भाव के फलस्वरूप पूर्वी भारत में इस भक्तिधारा ने जनमानस में प्रभावशाली स्थान ग्रहण किया। कीर्तन और रासलीला दोनों इसी भक्तिधारा की विशेष देन के रूप में उभरे। मणिपुर के निवासियों का विश्वास है कि कीर्तन-गायन तथा रासलीला-नृत्य मानव-हृदय में राधा-कृष्ण के अलौकिक प्रेम की स्वर्गिक अनुभूति जगा सकने में समर्थ होता है। रासलीला नृत्य उनके बीच मात्र एक कलात्मक अभिव्यक्ति ही नहीं है; वह उनके लिए अपनी आस्था और विश्वास की वस्तु है।

मणिपुर के कलाप्रेमी कृष्णभक्त महाराज जयसिंह इस मणिपुरी रासलीला के जनक माने जाते हैं। उन्होंने अपना उपनाम 'भाग्यचन्द्र' रखा था। कहते हैं कि उन्होंने स्वप्न में इस ढंग की रासलीला को प्रत्यक्षतः देखा था। इसी ढंग की रासलीला कराने का आदेश उन्हें स्वप्न में ही मिला था (लगभग १७०० ई०)। महाराज जयसिंह की स्मृति में वह स्वप्न अपने समस्त विवरणों—नृत्यों की वेशभूषा, उसका गति-संचालन, उसकी रसानुभूति आदि—सहित बसा रहा। अतः उन्होंने मणिपुरी रासलीला का नया प्रकरण प्रारम्भ किया। महाराज द्वारा परिकल्पित इस रासलीला में कृष्ण को मूर्त्त रूप में उपस्थित करने की योजना नहीं थी। इम्फल-स्थित श्री गोविन्द राजमन्दिर की स्त्रियाँ राधा तथा अन्य गोपियों के वेश में नृत्य करती थीं। भक्तजनों की आस्था थी कि इन नृत्यों में रसराज कृष्ण अदृश्य रूप में स्वयं उपस्थित रहते हैं। रासलीला नृत्य को इसी हेतु वे सब एक महत्वपूर्ण धार्मिक कृत्य के रूप में प्रदर्शित करते हैं तथा अत्यन्त पवित्र भावनाओं के साथ उसका रस ग्रहण करते थे।

किन्तु क्रमशः जब इन रासलीलाओं का प्रसार होने लगा तब लोगों ने उसे अधिक सशक्त और नाटकीय बनाने के लिए कृष्ण को भी मूर्त्त रूप में रासलीला में उतारना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु इन नृत्यों में कृष्ण का अभि-

करने वाले बालक बारह वर्ष की उम्र से अधिक नहीं होते। यदि कथानुकूल कहीं कृष्ण को वयस्क युवक दिखाने की आवश्यकता पड़ी तो उसका अभिनय किसी महिला द्वारा ही किया जाता है। रासलीला के शृंगारिक गीतों का ऐहिक प्रभाव उसके दैवी स्वरूप को नष्ट न कर दे, इस कारण वयस्क पुरुष वर्ग नृत्य के लिए वर्जित माना जाता है। राधा का अभिनय कभी-कभी किशोरियाँ करती है किन्तु बड़ी रासलीलाओं में राधा का नृत्य युवतियाँ ही प्रदर्शित करती हैं।

मणिपुरी रासलीला प्रदर्शन के छः विशिष्ट अंग हैं। इन छः अंगों के प्रदर्शनों के द्वारा राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का क्रमिक रस परिपाक प्रस्तुत किया जाता है। इस क्रम में सबसे प्रथम चरण कृष्ण का 'रासमण्डल' (मंच) में आकर नृत्य प्रारम्भ करना होता है। इसे 'कृष्णअविशार' कहते हैं। कृष्ण की भावपूर्ण मुद्राओं और भंगिमाओं से प्रतीत होता है कि वे अपनी प्रियतमा राधा को खोज रहे हैं। अपनी विकलता को वे राधा के स्मरणों से अभिव्यक्त करते हैं। सहसा उन्हें दूर से राधा के आगमन की सूचना मिलती है। वे प्रसन्न होकर पुनः नृत्य करने लगते हैं। नृत्य करते-करते वे रासमण्डल की दूसरी सीमा पर जाकर एक मुद्रा में स्थित होकर राधा के आगमन की प्रतीक्षा करते हैं।

रासलीला का दूसरा चरण 'राधाअविशार' से मुखरित होता है। राधा दूसरी ओर से नृत्य की मुद्राओं में अपने प्रियतम कृष्ण को ढूँढ़ती आ रही है। वे प्रेम में विह्वल हैं और अपनी भंगिमाओं से अपने आराध्य कृष्ण का स्मरण और चिंतन करती हुई दीख पड़ती हैं। वियोग की ज्वाला से उनका शरीर जैसे दीप्त हो रहा है। वे कृष्ण से मिलने के लिए आतुर हैं। मंडल में राधाअविशार होते ही संगीत अधिक प्राणवान हो उठता है और रासलीला की पृष्ठभूमि उभरने लगती है।

संगीतमयी इस नृत्य-नाटिका के सूत्रधार अथवा नटों का कार्य करती है वृन्दा गोपिका। वह गोपिकाओं की नेत्री होती है। अपने कौशल से राधा और कृष्ण का वियोग तोड़ती है, कृष्ण को उनकी निर्ममता के लिए उलाहना देती है, राधा की वकालत करती है। दोनों का मिलन कराने के पश्चात् वह राधा-

कृष्ण को युगल छवि बखानती है और भक्ति-विभोर होकर स्वयं नृत्य करती हैं। वृन्दा के ही निर्देश तथा संकेत पर दूसरी गोपिकाएँ भी नृत्य करती हैं। इन गोपी-नृत्यों का भी एक क्रम होता है। शंखध्वनि के साथ सर्वप्रथम कृष्ण का नृत्य होता है। जब वे त्रिभंगी मुद्रा में खड़े हो जाते हैं तो राधा आत्मनिवेदन स्वरूप अपना नृत्य प्रस्तुत करती है। राधा के नृत्य के उपरान्त ही दूसरी गोपिकाएँ अपना आत्मनिवेदन-नृत्य प्रस्तुत करती हैं। सामूहिक नृत्य प्रारम्भ होते ही कृष्ण-राधा तथा उपस्थित गोपियाँ उल्लासपूर्ण नृत्य करते हैं। नृत्य का क्रम बढ़ाने के लिए बीच-बीच में शंखध्वनियों का प्रयोग किया जाता है।

'भंगि' रासलीला का महत्वपूर्ण चरण है। इसमें अभिनय-अंश की प्रधानता अधिक मुखर होती है। छोटे-छोटे कथानकों के आधार पर इसकी रचना होती है। राधा उस कथा में रूठ जाती है, कृष्ण उन्हें मनाते हैं। कृष्ण के रूठने पर राधा अनुनय-विनय से उन्हें पुनः नृत्य के लिए खींचकर ले आती हैं। राधाकृष्ण की यह मनुहार लीला ही 'भंगि' का प्राण है। 'भंगि' में मणिपुरी नृत्य की 'चलन' का बड़ा सुगठित रूप दिखाई पड़ता है। अन्ततः रासलीला की सभी गोपिकाएँ राधाकृष्ण के समक्ष समर्पित होकर उनकी वंदना करती हैं। इसे मणिपुरी रासलीला की भाषा में 'कुरंभ पारङ' कहते हैं।

राधाकृष्ण का युग्मनृत्य 'मिलन' में परिणित हो जाता है। कृष्ण का नृत्य प्रारम्भ होता है जिसमें तांडव अंश अधिक उभरा हुआ रहता है। इसके बाद 'वृन्दा सखी' का नृत्य होता है। वृन्दा का यह अन्तिम नृत्य सारी रासलीला की किसी चरमसीमा तक परिणति होता है। वृन्दा का यह नृत्य मानवीय-हृदय की उद्दाम तरंगों को अपनी आस्था के प्रति समर्पण का नृत्य है। राधाकृष्ण की प्रसन्नवदन मुद्रा इस सबको स्वीकार करती हुई-सी दीख पड़ती है।

रासलीला का अन्तिम चरण 'प्रार्थना' के रूप में प्रायः 'अबीर-खेल' नृत्य से होता है। गोपियाँ अपने आराध्य राधा एवं कृष्ण पर अबीर फेंकती हैं। सारा 'मण्डल' आरक्त हो उठता है। यह उल्लास का प्रतीक माना जाता है। वे राधाकृष्ण के चारों ओर घूम-घूमकर अबीर फेंकती हैं। 'अबीर-खेल' नृत्य में कहीं-कहीं अबीर के स्थान पर फूल फेंक कर भी गोपियाँ नृत्य करती हैं।

'आरती' में सभी लोग सामूहिक रूप से भाग लेते हैं और इस धार्मिक कृत्य की निष्पत्ति होती है। उपस्थित जनसमूह श्रद्धाविनत हो राधाकृष्ण को प्रणाम निवेदित करता है। इस प्रकार रासलीला का यह अद्वितीय कार्यक्रम राधाकृष्ण के मधुरतम भावों के अमिट सौन्दर्यबोध को जन्म देता है। चक्रों एवं अर्धचक्रों से निर्मित यह रासलीला नृत्य नवीन गति आन्दोलनों को प्राणवान बना गया है। वैष्णव सम्प्रदाय ने रासलीला को जिस वैशिष्ट्य के साथ प्रदर्शित करने की संयोजना की है वह सहज ही उसे शास्त्र-सम्मत नृत्यों की कोटि में ले जाने में समर्थ सिद्ध हुआ है। वस्तुतः इस नृत्य की अनेक मुद्राएँ और अंग-संचालन मणिपुर के प्राचीन 'लाइहरोबा' नृत्य से प्रभावित हैं, किन्तु उनके रासलीला नृत्यों में जैसा परिष्कार-परिमार्जन और जैसी अभिव्यक्ति हुई है वैसी अन्यत्र देखने में नहीं आती।

अपने कथानकों तथा ऋतुओं के अनुकूल ये रासलीलाएँ विभिन्न प्रकार की मानी गयी हैं। मार्च-अप्रैल की पूर्णिमा में 'वसन्त-रास' होता है। राधाकृष्ण प्रेमलीलाओं के अन्तर्द्वन्द्व तथा प्रतिसमर्पण की भावनाओं से 'वसन्त-रास' ओतप्रोत है। दूसरी गोपी के प्रति कृष्ण की आसक्ति अथवा किसी अन्य कारण से अपने प्रति उपेक्षा भाव से राधा रूठ जाती है और कृष्ण को स्वीकार नहीं करतीं, किन्तु कृष्ण अपनी इस भूल के लिए राधा के समक्ष पश्चात्ताप करते हैं। राधा उन्हें अन्ततः क्षमा कर देती हैं और स्वीकार कर लेती हैं। विरह की अनेक स्थितियों का अत्यन्त प्रभावपूर्ण प्रदर्शन इस नृत्य-रास में दिया जाता है। रासलीला में प्रायः बराबर जयदेव तथा दूसरे वैष्णव भक्तकवियों के पद साथ-साथ गाये जाते हैं और इन भावों की अभिव्यक्ति उन्हीं पदों के माध्यम से ली जाती है।

दशहरे के दिनों में किया जाने वाला 'कुंजरास' राधाकृष्ण की दैनिक विहार-लीलाओं का नृत्य है। वे परस्पर हास-विलास करते हुए कुंजों में विहार करते हैं। इस रास में आदर्श प्रेम की प्रतिष्ठा का यत्न किया जाता है।

'महारास' वियोग शृंगार की रासलीला है। कृष्ण राधा से बिछुड़ कर चले जाते हैं। राधा इस वियोग में सन्तप्त होकर अपने प्राणों की बलि देना

चाहती है, किन्तु उनकी विह्वलता तथा प्रेम की एकाग्रता से रीझकर कृष्ण पुनः अवतरित होते हैं और राधा को अंगीकार कर लेते हैं तथा भक्ति प्रदान करते करते हैं। माघ-पौष की पूर्णिमा पर यह नृत्यरास प्रायः सम्पन्न होता दिखाई पड़ता है।

इन प्रमुख रासलीलाओं के अतिरिक्त अन्य संक्षिप्त रासलीलाएँ हैं और इनकी अपनी परम्परा है। 'नित्य रास' कभीभी की जाने वाली रासलीला है। 'दिवारास' को मात्र दिन में ही प्रदर्शित करने की परम्परा है। रात्रि के लिए यह रास वर्जित है। 'नवलरास' में आठ गोपियाँ और एक कृष्ण नृत्य करते हैं, किन्तु 'अष्टगोपी-अष्टश्याम' रास में आठ गोपियों के साथ आठ कृष्ण रूप नृत्य करते हैं। इन सब में थोड़े हेर-फेर के साथ प्रायः लीलाएँ एक जैसी ही होती हैं।

रासलीलाओं में नृत्य करने वाली गोपियों तथा राधा की वेशभूषा बड़ी अनूठी एवं वैभव-सम्पन्न होती है। लाल साटन के चमकदार अधक 'जड़े लहँगे, जिनमें कढ़ी हुई धारियाँ पड़ी होती हैं, इसी नृत्य की विशेषता है। ये लहँगे गोल रहने तथा विशिष्ट गतियों पर घूमने के लिए भीतर बेंत की छड़ियाँ लगा कर 'सेट' कर दिये जाते हैं। शरीर के ऊपरी अंग को ढँकने वाली चोली भी विशिष्ट होती है। इन सब पर सिर के केशों को समेटता, लहराता हुआ महीन दुपट्टा जैसे श्री की झलक देकर बार-बार ढाँक लेता है। यह दुपट्टा इतना पारदर्शी होता है कि इससे नर्तकियों की मुखसज्जा तथा मुखमुद्राएँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। अंग की समस्त उत्तेजक क्रियाओं तथा अवयवों को गुम्फित करने के पीछे दैहिक भावनाओं के शमन की ही दृष्टि दिखाई पड़ती है।

रूपसज्जा रासलीला का विशेष अंग है। विभिन्न प्रकार की कुशल रेखाओं के अतिरिक्त वैष्णव सम्प्रदाय के तिलक चिह्न से इनके मुख दीप्त रहते हैं। 'वसन्तरास' तथा दूसरे साधारण रासों में केश-विन्यास के अन्तर्गत जूड़ा पीछे की ओर किया जाता है। 'महारास' में सिर के ठीक मध्य भाग में जूड़ा बनाया जाता है। सिर के एक और जूड़ा करने का विन्यास 'कुन्जरास' में दिखाई पड़ता है। रासलीलाओं के ये सूक्ष्म विवरण बड़े यत्न से बनाये गये हैं, किन्तु

आज इन नृत्यों को प्रदर्शित करने वाले कलाकार इन संकेतों पर इतना ध्यान नहीं देते। कृष्ण का सांवला स्वरूप शास्त्रसम्मत किया जाता है। उनका मुकुट फूलों का होता है और उसके मध्य में मयूरपंख होता है। कृष्ण को विभिन्न अलंकारों से सुशोभित करते हैं।

रासलीला जहाँ प्रदर्शित होती है उस स्थान को 'मंडल' कहते हैं। इसे फूलों तथा दीपों से सज्जित करते हैं। पत्तियों के बन्दनवार तथा मंगलघटों से स्थान को मंगलमय बनाया जाता है। बड़ी-बड़ी प्रकाश की कन्दीलें लगाकर भी वे 'मंडल' की शोभा बढ़ाते हैं। दूर से ही इसे देखकर लोग 'रास-उत्सव' के लिए टूटने लगते हैं।

मणिपुर निवासी रासलीला से अपने आपको कृष्णमय बना लेना चाहते हैं। यही उनकी सिद्धि है। यह रासलीला प्रायः मध्यरात्रि से प्रारम्भ होकर भोर तक चलती है। उसे मनोयोग से देखकर एक पारलौकिक अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। रासलीलाओं की यह परम्परा अब अपने विकास पर है। मणिपुर और मणिपुर से बाहर के जो कलाकार इस लीला को प्रदर्शित कर रहे हैं यदि वे इसके रूप तथा भावबोध को परिष्कृत रूप में जीवित रख सके तो भारत की नृत्य-कला की यह एक अमूल्य वसीयत सिद्ध होगी। ● ● ●

ठुमरी : एक लोकरंजक गायकी

●

भारत का शास्त्रीय संगीत धर्म तथा राज्य संरक्षण की दो कीलियों पर ही घूमता रहा है। दोनों की रूढ़ियों ने जब संगीत को भी क्रमशः रूढ़िगत बन्धनों में जकड़ना प्रारम्भ किया तो प्रतिक्रियास्वरूप ठुमरी गायन का जन्म हुआ। जन्मतः लोकतन्त्र पर आधारित होते हुए भी ठुमरी की रसानुभूति ने उसे सामन्तवादी परम्पराओं के बीच ला मिलाया। रीतिकालीन कविता की भाँति ठुमरी का राधाकृष्ण लीलावर्णन भी उसी संस्कृति की देन है। शास्त्रीय संगीत के आचार्यों ने ठुमरी गायन को सदा निम्नकोटि की साधना माना, किन्तु वस्तुतः ठुमरी ने संगीत को काव्यमय अनुभूतियों से अधिक सुदृढ़ तथा

ग्राह्य बनाया और रागों के कठोरतम बन्धनों से मुक्त होकर मानवीय संवे-दनाओं को सही अर्थों में और भी गहरे उतर कर छूने का प्रयास किया। रागों के सूक्ष्म और अगम भावबोधों को ठुमरी के माध्यम से जीवन के अधिक निकट लाया जा सका।

ठुमरी का जन्मस्थान लखनऊ मानते हैं। लखनऊ के ही उस्ताद सादिक अली खाँ इस अंग की गायकी के जनक कहे जाते हैं। अवध के कला-विलासी नवाब वाजिदअलीशाह जिन अनेक कलाओं को प्रोत्साहित करने के लिए विख्यात हैं, उनमें ठुमरी का अपना एक महत्व है। वे स्वयं ठुमरी के एक अच्छे रचयिता थे। 'कदर पिया', 'ललन पिया', 'अख्तर पिया' जैसे उपनामों वाले अनेक 'पिया' ठुमरियों के रचनाकार हुए। अवध का कत्थक नृत्य ठुमरी गायकी से विशेष रूप से सम्बन्धित रहा है। धीमी लय में पहले गीत गाकर, फिर नृत्य द्वारा उन भावों की अभिव्यक्ति कत्थकों का प्रिय नृत्य था।

लखनऊ की ठुमरी गायकी दरबारी संरक्षकता में अभिजात्यवर्ग की अभि-रुचि से भरीपुरी थी। नागरिक संस्कृति इन ठुमरियों में बोलती हुई दिखती है। गायन शिल्प की सूक्ष्मता, कुशलता और पदों के बोलों का अभिजात्य प्रदर्शन, उर्दू और ब्रज मिश्रित भाषा की चुलबुलाहट, शास्त्रीय रागों से मोह, और ख्याल गायकी से ठुमरी अंग की विशिष्टता प्रदर्शित करना, लखनऊ के के ठुमरी-रचनाकारों और गायकों का अपना सौष्ठव था। उत्तर प्रदेश में वारा-णसी ठुमरी का एक दूसरा केन्द्र बना। राज्य-संरक्षण से सर्वथा विहीन और विमुक्त बनारस में ठुमरी ने लोक तत्वों को ही विशुद्ध रूप से पहली बार अपनाया। चैती, कजरी, सावनी, होली आदि लोक-प्रचलित धुनें ठुमरी गायन का महत्वपूर्ण अंग बन गईं। बनारस अंग की ठुमरी में इसी कारण न केवल लोकरंजन का ही पक्ष बहुत सबल है, वरन् उनमें आज भी नवीनता और ताज़गी मिलती है। लखनऊ और बनारस दोनों को ही एक प्रकार से पूरब अंग की ठुमरी कहा जाता है। ठुमरी का दूसरा पक्ष 'पंजाबी अंग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस अंग की ठुमरी का मूल उत्स पंजाब का लोकसंगीत माहिया, पहाड़ी आदि धुनें हैं। पदों के बीच में तानों का पारे के दानों-सा बिखरना

और गोल छल्ले जैसे स्वरों से शब्दों को जोड़ना, खटकों का प्रयोग, पंजाबी अंग की अपनी विशेषता है। पंजाबी अंग के गायक शब्दों की अपेक्षा तानों पर अधिक बल देते हैं जिससे ठुमरी का बोल पक्ष पीछे छूट जाता है। ठुमरी गायकी बोलों की ही गायकी है। काव्य का विशेष रस लेने के लिए ही ठुमरी लोकप्रिय हुई। ठुमरी का यह अंश पंजाबी अंग में उपेक्षित रहा। किन्तु इधर पंजाबी अंग के गायक भी काव्यात्मक रस की रक्षा करने की चेष्टा करते हुए दीख पड़ते हैं। पंजाबी अंग की लोकप्रियता भी बढ़ रही है और बहुत से गायक पूरब अंग के साथ इसका मिश्रण करते है।

ठुमरी के लिए सीमित राग हैं। संक्षिप्त और चंचल राग ही ठुमरी के लिए उपयुक्त माने गये हैं। खम्माच, पीलू, काफी, भैरवी आदि ठुमरी के प्रचलित राग हैं। किन्तु आजकल तिलंग, खम्भावती, सिन्दूरा जैसे रागों में भी ठुमरी गाते हैं। ठुमरी शृंगार से सम्बन्धित भावों, अनुभावों, उद्दीपनों तथा संचारी भावों का एक अपूर्व मिलन-तीर्थ रहती है। निष्णात गायक इन सभी अनुभावों से एक सम्पूर्ण रस की सृष्टि करने की चेष्टा करता है। किसी भी बोल के जितने भावात्मक स्तर हो सकते हैं, उसे गायक अपने कंठ से विभिन्न स्वर समूहों से अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है, जिसे टेक्निकल ढंग से 'अदा करना' कहते हैं। ठुमरी के प्रधान रसतत्व को कल्पना प्रणवता से गायक नये-नये रूपों में प्रदर्शित करता है। अच्छा गायक न केवल सुरुचि सम्पन्न व्यक्ति की रस ग्राह्यता को ही प्रभावित करता है वरन् इसी हेतु वह लोकरंजक भी सिद्ध होता है।

रीतिकालीन काव्यधारा की जो सामाजिक पृष्ठभूमि थी और उस काल में जैसी काव्य कृतियों की रचना ठुमरी के रचनाकार कर सकते थे, वही ठुमरी गायकी की भाव-पीठिका बनी। 'राधा कन्हाई सुमिरन को बहानों' लेकर शृंगार की जैसी घोरतम रचनाएँ की गईं, ठुमरियों में उसके उदाहरण भी कम नहीं मिलेंगे। 'नजरिया' के प्यारी लगने की चर्चा उठा कर उसे किसी सीमा तक ले जाने में ठुमरी गायकों को संकोच नहीं होता। 'फुलगेंदवा' बन कर 'मैंया की गोद' की आकांक्षा न जाने कितने गीतों का ताना-बाना बुन चुकी

है। इस प्रकार की रचनाओं के पीछे उन घरानों का विशेष हाथ रहा है जिनका काम मजलिसों और राजसभाओं में नाचना-गाना मात्र ही था। उनके व्यवसाय की दूषित छाया इन गीतों में प्रायः प्रतिभासित हुई है। दादरा गीतों में ये भावनाएँ और भी स्पष्ट हुई हैं। ठुमरियां और दादरों के ये बोल बिना किसी परिष्कार के पुनः सुसंस्कृत गायक समाज ने संगीत के पुनरुत्थान काल में स्वीकार कर लिये। इस प्रकार के बोलों का अनर्थ तब होता है जब अहिंदी भाषा-भाषी प्रदेश की भद्र महिलायें ठुमरियों के इन्हीं पदों को सोत्साह गाती हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि ठुमरियों के इन बोलों का पूर्णरूपेण संशोधन एवं परिवर्त्तन किया जाय। ठुमरियों के रचयिता अच्छे गायक भले हो रहे हों परन्तु वे कवि निश्चित ही घटिया थे। यदि अच्छे कवियों की कृतियाँ ठुमरियों के माध्यम से सामने आतीं तो वे अच्छी आलम्बन सिद्ध होतीं। संगीत की महत्ता इस दृष्टि से आज की हिन्दी कविता तो कम से कम नहीं ही स्वीकारती। जिस माध्यम से भक्तिकालीन कवियों की अनेक कृतियां जन-मानस में उतरीं, उसका महत्व रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पहचाना था। इसीलिए भले ही उन्होंने शास्त्रीय संगीत को तोड़ मरोड़ कर 'रवीन्द्र संगीत' को जन्म दिया हो पर उनकी काव्य-कृतियाँ उस माध्यम से बंगाल के हर घर तक सरलता से पहुँचने में समर्थ हुईं। हिन्दी-काव्य में ठुमरी में गाने योग्य गीत लिखे ही न गये हों, ऐसी बात नहीं है। परन्तु वस्तुतः गायकों का अर्धशिक्षित समाज न तो इतना प्रबुद्ध है और न इतना चेतन ही कि वह स्वयं उन्हें चुने और बदले। उसे यह भी नहीं ज्ञात है कि वह गाना गाता ही क्यों है। उसके संगीत की परिक्रमा म्यूजिक कान्फ्रेन्सों, आकाशवाणी के कार्यक्रमों और संगीत नाटक अकादमी के पुरस्कारों तक ही सीमित है या उसका और भी कोई गंतव्य है? इस चेतना के अभाव में वह ठुमरी के बोलों को भी कोई महत्व नहीं देता। चाहे पिया के साथ रंगरेलियाँ करना हो या उससे भी उथला अथवा गहरा मंतव्य हो, उन्हें मात्र एक 'परफार्मेन्स' से मतलब रह गया है जिसके बाद उन्हें अपने पैसे तत्काल मिलने चाहिए।

ठुमरी-गायन इस कला का ही एक विशेष अंग नहीं है, वह जीवन के प्रति एक नई मानवीय दृष्टि है। उसका स्वरूप शास्त्रीय, संगीत एवं काव्य से लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करता है, उसे मुखरित करता है। सूक्ष्मतम भावों का तत्कालिक प्रभाव समुपस्थित करता है। ठुमरी की वही शक्ति इस समय सो गई है। इसी कारण वह अपने मूल उद्देश्य से दूर हट गई है। संगीत के आचार्यों ने इस माध्यम को मानवीय संवेदनाओं का अधिक सूक्ष्म वाहन बनाने की चेष्टा की किन्तु आज जब उसके उस सामर्थ्य की सबसे अधिक आवश्यकता है तो हमारा गायक-समाज उसे बिल्कुल ही भुला बैठा है। ठुमरी ने शास्त्रीय संगीत को बन्धनों से मुक्ति देकर लोकमानस के निकट खींचा था। जनरुचि और शास्त्रीय संगीत के बीच की खाई को पाटने के लिए इस माध्यम का पुनः आकलन करना वांछनीय होगा। ● ❀ ●

बंगाल का लोक-संगीत

●

भारत के प्रायः समस्त प्रदेशों का लोक-संगीत धुनों की दृष्टि से काफी धनी है। उत्तरप्रदेश, पंजाब, महाराष्ट्र, सब ओर गाये जाने वाले लोक-गीतों की धुनें आज फिल्मी प्रोड्यूसरों के लिए भी महान् आकर्षण हैं—क्योंकि वहीं लोक धुनें उनके गीतों को लोकप्रिय बनाती हैं। पर इन सभी लोक-धुनों में बंगाल का लोक-संगीत जितने विभिन्न प्रकार के स्वरों का सम्मिश्रण उतार-चढ़ाव और रस उपस्थित करता है, उतना शायद कहीं का नहीं। बंगाल की धरती—धान-पटसन के किसानों की धरती—मछली पकड़ने वाले धीवरों की धरती, आज भी भटियाली की धुनों से अपने प्राणों का संगीत सुनाती है।

दृष्टि से 'छतपीटेर' संगीत में भी वह लय रहती है जो छत पीटते समय या सड़कों का कंकड़ कूटते हुए स्त्रियाँ गाती रहती हैं।

किसानों के अपने विशेष गीतों में धान रोपने का गीत, धान काटने का गीत और मचान पर बैठकर गाने का गीत, जिसे 'तांग चांगेर गीत' कहते हैं, मुख्य है। पहिले दोनों गीत सामूहिक भी गाये जाते हैं और अलग एक आदमी भी गाता है। मचान पर बैठकर रात भर अपना धान का खेत रखाने वाला किसान ऊँचे स्वरों में रात काटने के लिए और जानवरों को खेत से भगाने के लिए गाता रहता है।

बंगाल के जंगलों में गाये जाने वाले गीतों की अपनी अलग पाँति है—'बनगीती' (बनगीत) वे गाते हैं जो जंगलों में लकड़ी काटने का काम करते हैं। 'हाथी खेदार गाने' एक विशेष प्रकार का गीत है जिसे हाथी पकड़ने के लिए खेदा लगाते समय गाया जाता है। बंगाल के जंगलों से बहुत से हाथी पकड़े जाते हैं। उसके लिए जो मजदूर काम में लगाये जाते हैं वे यही 'टिपिकल' गीत गाते चलते हैं।

पर इनके अतिरिक्त बंगाल में ऐसे संगीत की बहुलता है जो वहाँ चौपालों में या लोक-नाट्यों में प्रदर्शित होता है। महाप्रभु चैतन्य के बाद बंगाल में कीर्तन की ऐसी लहर आई कि गाँव-गाँव में प्रभु-स्मरण का यह ढंग चल निकला। बँगला कीर्तन अन्य प्रदेशों के कीर्तन से बहुत भिन्न होता है। यहाँ के कीर्तन को बहुत वैज्ञानिक और व्यवस्थित ढंग से गाते हैं। इसमें गायक राधा और कृष्ण की लीला का वर्णन करते हैं। धार्मिक संगीत में 'पुराणगान' भी आता है। श्रावण मास में गाया जाने वाला 'मंशारगान' जिसमें पद्म-पुराण की घटनाएँ वर्णित हैं, आज भी उतना ही जनप्रिय है। रामायण-गान, दुर्गापुराण-गान, कालिकापुराण-गान, आदि प्रचलित गीत मंगल-गीत के नाम से प्रसिद्ध हैं। दुर्गापुराण-गान और कालिकापुराण-गान बंगाल में शाक्त धर्म के प्रचार में सहायक हुआ। बंगाल के मुसलमानों में 'जारी और ग़ीज़ार-गान' भी बहुत लोकप्रिय है। इसे सुनने के लिए हिन्दू-मुसलमान दोनों ही जुटते हैं।

'जात्रा' बंगाल की नौटंकी का एक रूप है। इसकी विषय वस्तु बहुधा धार्मिक ही होती है। गीतों से भरे हुए संवाद, पात्रों का अभिनय और बिना पर्दे का रंग-मंच, 'जात्रा' की अपनी विशेषता है। ढोलक, मंजीरे, झाँझ और हारमोनियम जात्रा के गीतों में बजाये जाते हैं। ये गीत शास्त्रीय संगीत की पद्धति में गाये अवश्य जाते हैं पर उनका रस शास्त्रीय संगीत से सर्वथा भिन्न होता है। जात्रा में स्त्रियों का अभिनय भी, नौटंकी की भाँति पुरुष ही करते हैं। 'धप' भी रासलीला या ब्रज क्षेत्र में प्रचलित 'रहस' की भाँति एक लोक-नाट्य है। इसमें स्त्रियाँ ही काम करती हैं।

कबी या 'कबीवाला' बंगाल का लोक-कवि होता है। उसकी कविताएँ ऊँचे स्वरों में गाई जाती हैं और अक्सर तार सप्तक को छूती चलती हैं। 'कबीवाला' गीतों में सबसे प्रमुख बात है दो कवियों की होड़। वे आपस में कविता द्वारा शास्त्रार्थ करते हैं और अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं। 'तर्ज' भी इसी तरह की चीज होती है। उसके गायक ढोल और झाँझ का प्रयोग करते हैं।

'घाटू-गीत' भी बंगाल का बड़ा लोकरंजक नृत्य-गीत है। इनकी मुद्राएँ भी बड़ी अनोखी होती हैं। उत्तर-प्रदेश में जिस तरह 'स्वांग' होता है ठीक उसी तरह एक लड़का लड़कियों के कपड़े पहिन कर नाचता है और उसे घेर कर सब गाने वाले बैठ जाते हैं। यह 'घाटू-गीत' चौपालों में भी गाया जाता है और बड़ी-बड़ी नौकाओं में भी लोग इसे अक्सर गाते रहते हैं।

बंगाल के लोक-गीतों में शिव का बड़ा अनोखा चित्रण मिलता है, जहाँ वे उन्हें एक किसान के रूप में जानते हैं जो उन्हीं की तरह धान बोते हैं और काटते हैं। शिव के गीतों की परम्परा ही अलग है। इन्हें 'गंभीर-गान' कहते हैं पर इनमें अधिकतर सामाजिक व्यवस्था पर चुटीले व्यंग रहते हैं, कुछ-कुछ उसी तरह जिस तरह कबीर की 'बानी' में मिलता है।

लोकरंजक पक्ष के अतिरिक्त बंगाल के गीतों में दार्शनिक तत्व भी प्रमुख हैं जिन्होंने बंगाल पर बड़ा तीखा प्रभाव डाला है। 'सहजिया सम्प्रदाय' से उद्भूत बाउल-गीत ऐसी दार्शनिक और रहस्यवादी धारा में बहुत लोकप्रिय

है। गाने वाले भी 'बाउल' कहलाते हैं, उनके गायन के साथ दूसरे लोग नाचते हैं। बाउल-गीतों में सीधे शब्दों के गंभीर अर्थ और 'प्रीतम' से मिलने की बात कही जाती है। 'देहतत्व' वाले गीत नाच के बिना चलते हैं। बाउल मुसलमान भी होते हैं। 'रामप्रसादी' एक विशेष रहस्यवादी संत के नाम पर चला हुआ विशिष्ट लोक-संगीत है। इसकी धुन भी 'रामप्रसादी' कहाती है। शास्त्रीय-पद्धति का टप्पा-अंग इस गायकी में काफी दीख पड़ता है।

तेज लय में गाया जाने वाला झूमर गीत भी अपनी रस-प्रियता के कारण बंगाल में बहुत प्रचलित है। बीरभूमि, बाँकुड़ा और बर्दवान में झूमर अत्यन्त प्रसिद्ध है। संथालों की नृत्य धुन से झूमर बहुत सीमा तक प्रभावित है। 'मदल' लेकर ये संथाल गीत गाते हुये नाचते हैं।

इनके अतिरिक्त 'बारामोशा' (बारहमासा) भी बहुत गाया जाता है। इन गीतों में बारहमासा की ही भाँति बारहों महीना का वियोग या प्रकृति-चित्रण दिया जाता है। वैसे पूजा के अवसरों पर तथा विशेष पर्वों पर गाये जाने वाले गीत की तथा उनकी अनूठी धुनों की संख्या कम नहीं है।

जानकारों ने बँगला संगीत की जो व्याख्या की है उससे पता चलता है कि अधिकतर बँगला लोक-संगीत खम्माच ठाठ पर आधारित है और उसमें भी झिझौंटी राग बहुत सात्विक राग माना गया है। विभास राग के अंश भी इन गीतों में काफी मिलते हैं। बहुत से गीत ऐसे हैं जो जब तक अंतरा में नहीं गाये जाते तब तक उनमें स्वर-भेद करना बहुत कठिन है। रवि बाबू ने बँगला लोक-गीतों को शास्त्रीय संगीत में मिला कर ही 'रवीन्द्र' संगीत को जन्म दिया था। ● ● ●

नृत्य की टैगोर शैली

●

देश के सांस्कृतिक जागरण के इतिहास में कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने हर क्षेत्र में जैसा कार्य किया है, वह एक चरणचिन्ह के रूप में आज भी देखा जा सकता है। काव्य की जिस लयात्मकता की अनुभूति टैगोर की कृतियों में पाई जाती है, उसका शिखर स्पर्श करने के लिए कवि ने नृत्य के माध्यम को सर्वोत्तम पाया। जीवन की उसी गतिमयता को अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति पाने के लिए, रस की सर्वोपरि उपलब्धि के लिए, रवि बाबू ने मानवीय शरीर को लय की एक नई दिशा दिखाई।

वे पूर्ण कलाकार थे और कला की सर्वांगीण अभिव्यक्ति के नये एवं प्रभाव

पूर्ण माध्यमों की सतत खोज में रहते थे। रवि बाबू ने ही पहिली बार मणिपुरी नृत्य की अद्भुत आकर्षण शक्ति से लोगों को परिचित कराया। उन्होंने स्वयं मणिपुरी नृत्यों के पद-संचालन, अंग-संचालन तथा रस-सिक्त भाव प्रेषणीयता की क्षमता का विस्तृत अध्ययन किया था। मणिपुरी नृत्यों के वे सभी अंश उन्होंने अपनी नृत्य-शैली में स्वीकार कर लिये थे जिसमें गति का प्रखरतम मूर्त रूप मिलता है। इसी प्रकार कवि टैगोर ने संथाली नृत्यों को भी विशेष रूप से परखा और उसे भी यथासंभव अपनी नृत्य शैली का अंग बनाया।

रवि बाबू स्वयं न तो बड़े कुशल नर्तक थे न उनकी यह इच्छा ही थी कि वे इस क्षेत्र में पूर्णता प्राप्त करें। नृत्य को उन्होंने सदा ही जीवन की समस्त रागात्मक अनुभूतियों की समष्टि अभिव्यक्ति माना जो विलुप्त रस को नई गति और संचार देता है और जिसके द्वारा जीवन को सुन्दरतर बनाना सहज सम्भाव्य हो सकता है।

कला की इस पृष्ठभूमि में भारतीय नृत्य के जटिल और शास्त्र-सम्मत नियमों का पालन रवि बाबू के लिए निरर्थक सिद्ध हुआ। अंगों का एक-एक विशिष्ट पद्धति में संचालन उनकी कल्पना की गतिमयता से सर्वथा भिन्न था। ताल के कठोर बन्धनों में जकड़े हुए नृत्यों से टैगोर अपना तादात्मय स्थापित नहीं कर पाये। अतः उन्होंने अपनी नृत्य-शैली को इन सभी बन्धनों से मुक्त कर दिया। भारतीय नृत्य की यही सर्व-बन्धन-मुक्त शैली 'टैगोर शैली' के नाम से विख्यात हुई।

इस शैली का प्रचलन स्वयं रवि बाबू ने अपनी नृत्य मण्डली बना कर किया और फिर बाद में इसी विशिष्ट रस धारा को मूलाधार बनाकर शांतिनिकेतन में नृत्य की दीक्षा प्रारम्भ हुई। इस विद्यालय से शिक्षा प्राप्त किये हुए विद्यार्थियों ने इस शैली को यथेष्ट लोकप्रिय बनाया। प्रबुद्ध एवं बुद्धिजीवी वर्गों में यह शैली अपने प्रशंसकों की वृद्धि करने लगी।

रवीन्द्रनाथ की यह शैली मूलतः भारतीय नृत्यों की कई शैलियों से अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित है। वस्तुतः यह 'गीति-नृत्यशैली' कही जा सकती

है। पृष्ठभूमि से ऐसे काव्यान्श का पाठ किया जाता है जिसमें मुद्राओं और अभिनयों के माध्यम से मंच पर प्रदर्शित करने की अनेक सम्भावनाएँ निहित रहती हैं। मंच पर का नर्तक कलाकार अपनी विभिन्न मुद्राओं और अभिनयों के माध्यम से पद्यांश के भावों को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है। ये मुद्राएँ और अभिनय शास्त्रोक्त नहीं है। सब कुछ कलाकार की सहज चेतना एवं उसकी अपनी वैयक्तिक अनुभूति पर निर्भर करता है। कलाकार इसके लिए सर्वथा उन्मुक्त है कि वह किस ढंग से किसी विशिष्ट भाव को किन साध्यमों से उठाता है, और प्रदर्शित करता है। उसकी लयात्मकता तथा भाव प्रेषणीयता कलाकार की अपनी ही हैं। इसके लिए वह जब जैसा चाहे अपने बाहुओं का विस्तार और संचालन कर सकता है। अवयवों को विभिन्न गतियों में आवृत्तियों में डाल सकता है और बिना किसी पद-संचालन के भी नृत्य कर सकता है।

जैसा कि हमने अभी संकेत किया था टैगोर शैली के इन नृत्यों पर कई शैलियों का अप्रत्यक्ष प्रभाव है। रसानुभूति की प्रधानता, गति-संचालन का मार्दव, सम्पूर्णता की अभिव्यक्ति की ओर जागरुक चेष्टा, यह सब मणिपुरी नृत्यों की निधियों से रवि बाबू ने ग्रहण कर लिया है। संथाली लोक-नृत्यों की ओजस्विकता भी उनकी शैली में परिलक्षित होती है। गीत के माध्यम से कथा को उभारने की टेकनीक, कथाकली नृत्यों से टैगोर ने उठाया है। किन्तु ये सभी शैलियाँ अत्यन्त सहज रूप से घुल-मिल कर ऐसी एकाकार हो गई हैं कि उनका भिन्न अस्तित्व ढूँढ़ना अत्यन्त कठिन है। 'चित्रागंदा' नामक नृत्य काव्य उनकी प्रसिद्ध रचनाओं में से है।

टैगोर ने इस प्रकार नृत्य को जिस ढंग का मोड़ दिया है वह सर्वथा नवीन था और समस्त परम्पराओं से पृथक् था। इस कारण टैगोर की यह शैली नृत्य के शास्त्रीय विद्वानों की दृष्टि में कटु आलोचना की पात्र हुई। वे तो इसे नृत्य की संज्ञा तक देने के लिए प्रस्तुत नहीं है। वे इसे एक उछल-कूद या हाव-भाव संयुक्त मनोरंजन मात्र मानते हैं। यदि पूर्णतः यह मूल्यांकन एक सत्य न भी हो तो भी यह सत्य है कि टैगोर ने जिस प्रकार की बन्धन-मुक्त-

नृत्य-शैली चलाई, वह एक शैली तब तक नहीं बन सकती जब तक उसके कलाकार किन्हीं विशिष्ट नियमों का पालन न करें। जब रवीन्द्रनाथ ने इस प्रकार की नृत्य-संयोजना की थी तो उनके मन में एक विराट कला की अभिव्यक्ति की कल्पना थी जो नृत्य के मौलिक बन्धनों को तोड़ कर विराट गतिमयता से तदात्मय स्थापित कर सकने में समर्थ होती। किन्तु उस बन्धन-मुक्त गतिमयता का स्तर प्राप्त करने के लिए जिस अनुशासन द्वारा कलाकार को अपनी कला को उस 'चिन्मुखता' की ओर ले जाना सहज संभव हो जाता है, वह डोर उसके हाथ से छूट गई। अतः जो उस विराट तत्व की झलक पा सका है वह भले ही अपने अंग-संचालनों में महानता का बोध करा सकने में समर्थ हो जाय किन्तु हर नये कलाकार के लिए वह किस सीमा तक सहज होगा यह विचारणीय है। यह कुछ वैसा ही है कि किसी तैरना सीखने वाले को बिना किसी दीक्षा के एकाएक समुद्र में ढकेल दिया जाय ताकि वह कला की सर्वोपरि साधना से ही प्रारम्भ करे। दूसरे इस शैली के चलन का एक प्रभाव यह भी स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा कि बहुत से अधकचरे अर्धशिक्षित नवयुवक अपनी हर उछल-कूद को टैगोरशैली का नृत्य कहने लगे। किसी विशिष्ट कसौटी के अभाव में उनके उस कथन का कोई प्रतिरोध करना भी सम्भव न था।

अस्तु। रवि बाबू के कलाकार व्यक्तित्व ने काव्य, नाटक-संगीत एवं चित्र, कला पर जिस प्रकार अपनी एक छाप छोड़ी थी उसी प्रकार नृत्य-कला पर भी रवि बाबू ने अपनी गतिमयता की मुहर लगा दी। उसे समझने और उसमें रस ग्रहण करने के लिए शास्त्रीयता को अस्वीकार कर कला की सहज अनुभूति की ही कसौटी पर परखना होगा। ● ● ●

एक कला आन्दोलन : अवध कला मण्डल

●

ललित कलाओं के व्यापक सामाजिक क्षेत्र में उत्तरप्रदेश एक पिछड़ा प्रदेश माना जाता रहा है। कतिपय विशिष्ट कलाओं को सामाजिक स्थिति में एक निम्न प्रकार की संज्ञा दिलाने में मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव भी अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। इन संत्रस्त कलाओं में संगीत एवं नृत्य प्रमुख हैं। दोनों कलाएँ जन-जीवन से सर्वथा कट कर दरबारी संस्कृति की अंग बन गईं और परिणामतः कालान्तर में दोनों ही राजसी भोग-विलास एवं आमोद-प्रमोद की समानार्थी समझी जाने लगीं। इस मनोवृत्ति का बीजारोपण बहुत गहरा हुआ। घोंघे जैसी गुलाम संस्कृति वाले व्यक्ति अपने में सिमट कर बैठ गये

और इससे भीतर ही भीतर परहेज़ करने लगे क्योंकि नृत्य अब उनके देवालयों एवं आध्यात्मिक स्तरों तक ही सीमित नहीं रहा; वह तो बादशाहों और नवाबों के हरम की वस्तु बन गया। इसी दृष्टिकोण के कारण ही इन कलाओं पर क्रमशः सामाजिक मलिनता की एक छाया उतरती चली गई और ब्रिटिश शासन आ जाने पर भी इस मूलभूत धारणा में विशेष अन्तर नहीं आया।

देश में जब सांस्कृतिक पुर्नजागरण की एक लहर चली तो उसकी हल्की प्रतिक्रिया इस प्रदेश में भी हुई। विदेशियों एवं कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने जब पुनः इस देश की कला को मान्यता देना प्रारम्भ किया तो उसका प्रभाव समाज पर भी हुआ। किन्तु अधिकांश ने इसे एक नये फ़ैशन के रूप में स्वीकार किया और कुछ ने इसलिए स्वीकार किया कि वह कला उनके मालिकों को पसन्द थी। इसका परिणाम दूर तक नहीं हुआ। वे लोग जो बाहर कला की प्रशंसा के पुल बाँधते हुए नहीं थकते थे, अपने घर में इस प्रकार की प्रवृत्तियों पर तानाशाही रोक लगाते थे। इनका विचार था कि यह एक बाजारू कला है और इसे केवल 'हाई क्लास' परिवार के लोग ही कर सकते हैं क्योंकि उन्हें यह भी भ्रम था कि तथाकथित 'हाई क्लास' परिवार में भीतर ही भीतर बड़े भ्रष्टाचार चलते रहते हैं। अतः मध्यमवर्गीय-नैतिक-पुलिस-कान्स्टेबुल ने इसे सद्गृहस्थ (?) के लिए 'त्याज्य' की संज्ञा से ही विभूषित रखने में समाज का कल्याण समझा और समझाया। 'सनीमा ठेठर नाच-गाना' के ख़ाने में पड़ा देखकर संगीत एवं नृत्य-कलाओं की कलात्मक संवेदन-शीलता की चर्चा करने का साहस किसी में नहीं था। बात यहीं तक नहीं थी। जो भी इसे करने का दुस्साहस करता उसे रण्डी, भड़ुवा, पेशे वाले आदि अनेक नामों से परोक्ष रूप से पुकारा जाने लगता। अतः अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा खोने के भय से ऐसा साहस प्रायः लुप्त हो जाया करता था।

ऐसी ही परिस्थितियों ने उत्तर प्रदेश के एक छोटे से नगर फ़ैज़ाबाद में अवध कला-मंडल के कला-आन्दोलन को सन् १९४० में जन्म दिया। कला-मंडल के इस आन्दोलन का उद्देश्य था मध्य-वर्गीय परिवारों के बीच सांस्कृतिक दुराग्रहों की दीवार तोड़ कर नई चेतना की प्रतिष्ठा करना। उसके

परिचालकों ने इस आन्दोलन की आधार-शिला बनाई पारिवारिक स्नेह का बन्धन। साहित्य, संगीत एवं नृत्य-कला के माध्यम से एक ऐसे रोचक एवं दुर्लभ वातावरण की सृष्टि के लिए वे तत्पर थे जो वस्तुतः नई सांस्कृतिक चेतना जगाने में समर्थ हो सके। कला-मंडल के घोषणा पत्र में कहा गया था :

'हम उन रसात्मक रचनाओं और कलात्मक कृतियों एवं कलाओं को देश की सब से बड़ी सम्पत्ति समझते हैं जो मनुष्य के हृदय को दीर्घकाल से संवेदन-शील एवं उदार बनाती चली आ रही है !...हमारा विश्वास है कि साहित्य और कला के माध्यम से ही लोकचित्त में इस प्रश्न की उदारता और संवेदना का विकास सम्भव है जो व्यक्तियों और समूहों में फैली हुई कटुता एवं विद्वेष की भावना का उन्मूलन कर सकती हो। केवल वैज्ञानिक शक्तियों पर प्रभुत्व और राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओं के परिवर्तन होने से ही यह काम नहीं हो जायगा। इसलिए कलाकारों का यह संगठन जनता में उन सभी मानवोचित गुणों के प्रचार का संकल्प घोषित करता है जो मनुष्य को सामाजिक न्याय का प्रेमी और उदार बनाते हैं और उन सभी बातों से इतना विरोध घोषित करता है जो समता तथा स्वतंत्रता के आदर्शों से मनुष्य को नीचे गिराता है।'

कला-मण्डल ने अपना कार्य-क्षेत्र परिवारों के माध्यम से बढ़ाना प्रारम्भ किया। शिक्षित एवं अर्ध-शिक्षित परिवार के लोगों का एकत्र होना, कलात्मक प्रदर्शनों में भाग लेना तथा अपने परिवार के लोगों को उसमें भाग लेने के लिए उत्साहित करना, सहज ही एक नये वातावरण की सृष्टि करने लगा। एक परिवार को देखकर, उससे मंडल की उद्योगों की चर्चा सुन कर आकर्षण की परिधि क्रमशः फैलती गई और बहुत से परिवार इसमें सम्मिलित होकर अपना योग देने लगे।

नृत्य-कला के क्षेत्र में कला-मंडल द्वारा किये गये कुछ प्रयास न केवल विशिष्ट नृत्य पारखियों द्वारा सराहे गये हैं वरन् कला के क्षेत्र में—विशेषकर हिन्दी-भाषी क्षेत्र में वे प्रयोग एक नई दिशा का द्वार खोल गये हैं। कला-मंडल ने साहित्य, संगीत एवं नृत्य की अद्भुत त्रिवेणी प्रवाहित की। महत्व-

पूर्ण साहित्यिक कृतियों को नृत्य-संयोजनाओं में पिरो कर उनका रस-बोध अधिक ग्राह्य बनाया जा सका। इस सम्बन्ध में श्रीमती महादेवी वर्मा की 'ओ चंचल जीवन बाल', 'शलभमय शापमय वर हूँ', नरोत्तमदास का सुदामा चरित (ओपेरा), कालिदास के मेघदूत के हिन्दी पद्यानुवाद पर आधारित दृश्य-नृत्य-नाट्य, एवं कवि रवीन्द्र की रचना 'चम्पाफूल' का प्रदर्शन महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। कवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर की रचना 'चम्पाफूल' के प्रदर्शन में कला-मंडल ने एक नया प्रयोग किया—वह था ताल और छंद-बद्ध संगीत के आश्रय को हटा कर मात्र काव्य-पाठ से एक रसात्मक नृत्य की अनुभूति! बंगाल में इस प्रकार के प्रयोग किये जा चुके हैं। स्वयं रवि बाबू ने भी इस दिशा में कुछ प्रयोग किये थे। पर जैसा हम कह चुके हैं हिन्दी क्षेत्र के लिए यह टेकनीक नई थी। कला-मंडल ने इसी प्रकार अन्य छोटे-छोटे कथा नृत्यों की संयोजना की थी। 'सुदामाचरित' एवं मेघदूत के अतिरिक्त 'हिन्दी काव्य का विकास' (छाया नृत्य) 'भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष', 'हमारा देश' (डिस्कवरी आफ इंडिया पर आधारित) इनके अनेक प्रदर्शन सराहनीय रहे।

ये प्रदर्शन बहुधा कृष्ण जन्माष्टमी के अवसर पर होते थे जब विभिन्न परिवारों के कलाप्रिय व्यक्ति एकत्र होते थे और छः दिवस तक निरंतर नित नये प्रदर्शनों के माध्यम से वांछित वातावरण की सृष्टि करते थे। कला-मंडल के प्रदर्शनों से ज्ञात होगा कि मंडल के मूल में धर्म की भावना का प्राधान्य था। किन्तु वह धार्मिक भावना रुढ़ि नहीं थी। धर्म की सहज मानवीकरण की चरम उपलब्धि ही कला-मंडल के प्रदर्शनों में परिलक्षित होती रही है। रस तत्व को अधिक विकसित करने तथा मानवीय संवेगों को और भी अधिक उदार तथा संवेदनशील बनाने के निमित्त उन्हीं सजीव प्रकरणों को कला-मंडल ने अपना माध्यम बनाया जिनके सहारे मध्यम वर्ग का परिवार अपनी समस्त आस्था एवं भक्ति रूढ़ियों के साथ कला से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ने में हिचकता नहीं था।

इस प्रकार के प्रदर्शन केवल स्थानीय रूप में ही नहीं सीमित रहे। विभिन्न संगीत सम्मेलनों, पर्वों एवं शिविरों में भी कला-मंडल ने अपना योग दिया

और सराहना प्राप्त की। कला-मंडल के कलाकारों ने अखिल भारतीय संगीत सम्मेलनों की प्रतियोगिताओं में भी भाग लिया। देश में किसी प्रकार की दैनिक विपत्ति आई तो कला-मंडल ने अपने प्रदर्शनों से उसके लिए आर्थिक सहायता जुटाने में सहायता की। कला-मंडल ने अपने इन प्रयत्नों के लिए हर क्षेत्र से यश प्राप्त किया। क्रमशः कला-मंडल के इन प्रदर्शनों द्वारा उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों में छोटी-छोटी लहरें दौड़ने लगीं। वाराणसी और अल्मोड़ा, जैसे स्थानों में भी इसकी शाखाएँ फूटीं और उसी पारिवारिक स्नेह के सूत्र में बँध कर कलात्मक जीवन-दृष्टि के प्रति नये आग्रह का जन्म हुआ।

इतना करने पर भी कला-मंडल एक महान् आंदोलन का जन्मदाता बनने में असमर्थ रहा। ताल में जिस तरह की छोटी कंकड़ी पड़ने पर लहर उठती है किन्तु थोड़ी दूर तक वृत्त बनाकर फिर विलुप्त हो जाती है, उसी प्रकार कला-मंडल इन वृत्तों को असीम दोलित नहीं कर सका। कला-मंडल के पास नृत्य शिक्षा की कोई सुनियोजित व्यवस्था नहीं थी। समय-समय पर विभिन्न शिक्षकों द्वारा एक विशिष्ट नृत्य-रचना की पूर्ति की जाती रही। अनेक परिवार के व्यक्तियों को कुछ दिनों इस प्रकार का भी भ्रम बना रहा कि कला-मंडल कोई स्कूल है जहाँ वे अपने बेटे-बेटियों को 'नाच-गाने' की शिक्षा दे सकते हैं। इस सम्बन्ध में निराश होने से उन्हें अपने बच्चों को दूसरे स्कूलों में भेजना पड़ा और उनका उत्साह मद्धिम पड़ गया। किसी भी प्रकार की आर्थिक व्यवस्था न होने से संगठन का कार्य सुचारु रूप से चलाना भी अत्यन्त दुस्तर था। तीसरा और महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि उत्साही परिवार के लोग जब एक केन्द्र से अपनी आजीविका के सम्बन्ध में क्रमशः हटने लगे तो आंदोलन् की गतिविधि में बिखराव आने लगा। प्रदर्शनों से हट कर वे सैद्धान्तिक गोष्ठियों की ओर झुक गये। किन्तु कुछ समय के पश्चात् यह क्रम भी टूटने लगा। अन्य केन्द्रों में भी क्रमशः शिथिलता आने लगी।

फिर भी कला-मंडल ने ऐतिहासिक दृष्टि से अपना दाय किसी सीमा तक पूर्ण करने की चेष्टा की। उसने भले ही महान् नर्तकों एवं नर्तकियों को जन्म न दिया हो, भले ही महान् नृत्य-रचनाओं की सर्जना न की हो किन्तु कला-

मंडल ने अपने योग से उस चेतना तत्व को जगाने का महत् प्रयास अवश्य ही किया है जो उन परिवारों के जीवन को सुन्दरतर बनाने के लिए क्रियाशील हो सकते हैं। इस रस-बोध को मध्य वर्गीय परिवारों तक सुलभ बनाने के लिए कला-मंडल का यह संक्षिप्त कलाआंदोलन अवश्य ही श्रेयी है। ● ● ●

संदर्भ ग्रंथों की सूची

●

डांस आफ़ इंडिया	...	प्रोजेश बनर्जी
आर्ट आफ़ कथाकली	...	आर० वासुदेव पोडुवल्ल
अभिनय दर्पण	...	आचार्य नन्दिकेश्वर
नाट्य शास्त्र	...	भरत मुनि
इंडियन म्यूज़िक	...	अतिया बेगम
माई लाइफ़	...	ईसाडोरा डंकन
इंडियन डांसिग	...	रामगोपाल सिरोश दादा छंजी
डांस इन इंडिया	...	फ़ेबियन बावर्स
फोक डांसेज़ आफ़ इंडिया	...	पब्लिकेशन डिवीज़न (भारत सरकार)
दि डांसिंग फुट	...	मुल्कराज आनन्द
इंडियन डान्स	...	पब्लिकेशन डिवीज़न (भारत सरकार)
ए कल्चरल सर्वे आफ़ राजस्थान	...	(भारतीय लोक कला-मंडल का शोधकार्य)
दि अपील इन इंडियन म्यूज़िक	...	मणि साहूकार
दि मिरर आफ़ जेस्चर	...	डा० ए० के० कुमारस्वामी
बैले	...	जार्ज एम्बर्ग
कथाकली : दि सेक्रेड डांस ड्रामा आफ़ मलाबार	...	के० भारत अय्यर
डांस आफ़ शिव	...	डा० ए० के० कुमारस्वामी

● ● ●